श्री श्रीगुरु गौरांगौ जयतः

श्रील प्रभुपादका उपदेशामृत

द्वितीय भाग

श्रीगौर ब्रज माधुरी समिति

* श्री श्रीगुरु-गौरांगौ जयतः *

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

प्रभुपादका

उपदेशामृत

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति के प्राक्तन

आचार्य श्रीगुरुपादपद्म

नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद १०८

श्री श्रीमद् भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामीचरण के

अनुगृहीत

बाँकेबिहारी ब्रह्मचारी (ब्रजवासी)

द्वारा सम्पादित

श्रीगौर ब्रज माधुरी समिति

प्रकाशक :

बाँकेबिहारी ब्रह्मचारी (ब्रजवासी)

श्रीगौड़ीय संकीर्तन भवन, सप्तऋषि नगर, ध्रुव घाट

मथुरा - 281001 (उ०प्र०)

फोन : (0565) - 2550378

❖

सम्पादक :

बाँकेबिहारी ब्रह्मचारी (ब्रजवासी)

❖

प्रथम संस्करण : सम्वत् 2073

16 फरवरी, 2017

श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' का आविर्भाव

❖

प्राप्ति स्थान :

1. **श्रीगौड़ीय संकीर्तन भवन,**
   जनरल गंज, सप्तऋषि नगर,
   ध्रुव घाट, मथुरा ।
   दूरभाष - 0565 - 2550378
2. **खण्डेलवाल एण्ड सन्स**
   अठखम्बा बाज़ार, वृन्दावन (उ०प्र०)
   दूरभाष - 0565 - 2443101

प्रस्तावना

परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद् भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज जी की अनुकम्पा से उन्हीं के प्रीति विधान के लिए बंगला भाष्य ग्रन्थ "प्रभुपाद उपदेशामृत" का द्वितीय भाग हिन्दी में प्रकाशित करते हुए अत्यधिक आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ । श्रीमन्महाप्रभु की वाणी के निर्भीक प्रचारक व अखिल भारतीय गौड़ीय मठ प्रतिष्ठाता जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत् श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभुपाद' ने वज्र गम्भीर सिंह स्वर से कृष्ण-विमुखता के विभिन्न रूपों का विश्लेषण कर कृष्ण भक्ति का प्रचार करते हुए जिन उपदेशों के द्वारा सत्य के पिपासुजनों की आँखें खोल दी हैं, वे उपदेशामृत ही हमारे एकमात्र रक्षाकर्त्ता व मार्गदर्शक हैं ।

श्रील प्रभुपाद के जगत् कल्याणकारी भक्ति उपदेश भक्ति सिद्धान्तों के सम्पुट (खज़ाने) हैं । हम कौन हैं? हम इस जगत् में क्यों आए हैं? हमारे दु:खों का मूल कारण क्या है? नित्य आनन्द की चरम सीमा को प्राप्त करने का सरलतम् व एकमात्र उपाय क्या है? - भगवान के नित्य सिद्ध परिकर श्रील प्रभुपाद ने अपने आचरण के द्वारा जगत् जीवों को हरिसेवा के उत्कर्ष की शिक्षा प्रदान करते हुए इन प्रश्नों के सटीक उत्तर प्रदान किये । साधु वेश में छिपे असाधु लोगों ने सत्य को जिन प्रच्छन्न कुविचारों से आवृत कर दिया है, उस आवरण को कटु सत्य हरिकथा के द्वारा नष्ट करना ही गौड़ीय वैष्णवकुल चूड़ामणि श्रील सरस्वती प्रभुपाद व उनके अनुगतजनों के जीवन का एकमात्र संकल्प व दृढ़ व्रत है । श्रीवृन्दावन दास ठाकुर ने श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु को 'पाषण्ड गजैकसिंह' कहकर उनकी स्तुति की थी । पाषण्डियों का दलन करके ही श्रीमन्महाप्रभु ने तृणादपि सुनीचता, तरोरपि सहिष्णुता व अमानी-मानदत्व की शिक्षा प्रदान की है ।

'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात् न ब्रुयात् असत्यमप्रियम्' अर्थात् सत्य कहो किन्तु वह प्रिय भी होना चाहिए । जिस प्रकार असत्य नहीं बोलना चाहिए, उसी प्रकार अप्रिय सत्य भी नहीं बोलना चाहिए - साधु वेशधारी असाधुओं के इस नारे को श्रील प्रभुपाद ने कभी सम्मान नहीं दिया । श्रील प्रभुपाद के मतानुसार **हमें किसी की भी वञ्चना न कर सबके समक्ष निर्भीक रूप से सत्य बात कहनी होगी । जिस कथा से जीवों का कल्याण होता हो, ऐसी सत्य बात अप्रिय होने पर भी अवश्य बोलनी चाहिए । यथार्थ सत्य का अनुसन्धान करना ही गौड़ीय वैष्णवों का सर्वप्रधान कर्त्तव्य है । संकुचित हरिकथा के द्वारा अपनी स्वार्थ सिद्धि करने वाले संन्यास धारण कर लेने पर भी न तो अपना कल्याण कर सकते हैं और न ही दूसरों का ।** जगत् के लोगों का वास्तविक कल्याण चाहने वाले साधु - गुरु - वैष्णवों के मर्मभेदी कटु सत्य वाक्य आपात् सुखकर न होने पर भी आत्यन्तिक मंगल के हेतु हैं । कटु सत्य हरिकथा अप्रिय होने पर भी माया से बचने के लिए मन्त्रौषधि स्वरूप है । असत्य के कठोर प्रतिवाद के द्वारा ही सत्य को स्थापित किया जा सकता है - इस विषय की उपलब्धि साधारण व्यक्ति नहीं कर सकते । जिन्होंने श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु के श्रीचरणों में ऐकान्तिक रूप से आत्म समर्पण किया है, ऐसे निरपेक्ष - निष्काम व कृष्ण भक्ति में अनुरक्त महत्पुरुष ही अन्याभिलाषी व्यक्तियों की कनक - कामिनी - प्रतिष्ठा की वासना में आघात कर उनकी चेतन - वृत्ति को जागृत कर सकते हैं । उनके मुख - निःसृत उपदेशामृत जीवों की कृष्ण - विमुखता को समूल ध्वंस करने के लिए Nuclear Bomb (परमाणु बम) के समान हैं, जिसका प्रभाव विस्फोट होने के बाद भी चिरकाल तक अनुभव किया जा सकता है । कनक - कामिनी - प्रतिष्ठा के चिन्तास्त्रोत को आबद्ध कर जीवों के हृदय में कृष्ण भक्ति के प्रवाह को संचालित करना ही उनकी अतिमर्त्य

उपदेशावली का अचिन्त्य प्रभाव है । अपने मनोकल्पित विचारों का परित्याग कर 'प्रभुपाद उपदेशामृत' का पुनः-पुनः पठन-पाठन व चिन्तन-मनन करने पर ही गौड़ीय-वैष्णव-विचारधारा को संरक्षित किया जा सकता है । इसलिए निरपेक्ष हुए बिना धर्म की रक्षा नहीं की जा सकती ।

श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की दिव्य भक्ति सिद्धान्तमयी उपेदशावली को धारण करने के लिए सदैव व्यग्र रहने वाले निष्कपट साधकों के लिए यह संस्करण भी पूर्व की भाँति अत्यन्त आनन्दप्रद होगा । इस ग्रन्थ में मुद्रण कार्य के लिए श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी, प्रूफ संशोधन के लिए सुश्री चिन्मयी दासी की सेवा प्रचेष्टा विशेष सराहनीय है । भगवत्कृपा की साक्षात् मूर्त्ति श्रीगुरुपादपद्म के श्रीचरणों में प्रार्थना करता हूँ कि वे इन पर प्रचुर कृपार्शीवाद वर्षण करें ।

आशा है सुधी पाठकगण प्रमादवशत सम्भावित भूल-त्रुटियों को संशोधित कर पुनः-पुनः प्रभुपाद की वाणी-वैभव का पठन-पाठन कर लाभान्वित होंगे व सिद्धान्त-विचारों को निष्कपटतापूर्वक हृदयंगम कर भक्तिपथ पर अग्रसर होंगे ।

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेशप्रार्थी-
दासानुदास बाँकेबिहारी

उपदेशामृत

श्रील प्रभुपाद की हरिकथाओं से संग्रहित

1. जो लोग स्वयं सेव्य तत्त्व के आसन पर बैठकर अपने भोग की वस्तुओं को संग्रह करने में व्यस्त रहते हैं, वे बहुत ही तुच्छ हैं, उनमें गुरुत्व नहीं है ।

2. जब तक हम अपने अहंकार को पूर्णरूप से त्यागकर निष्कपट दीनता में प्रतिष्ठित नहीं हो जाएँ अर्थात् वास्तव में ही दीन-हीन न बन जाएँ तब तक परम स्वतंत्र भगवान तक हमारी पुकार नहीं पहुँच सकती ।

3. पारमार्थिक गृहस्थ अर्थात् गृहस्थ वैष्णव के स्त्री-पुत्र तथा परिवार के अन्य सदस्य यदि भजन करते हैं, तो उन्हें उनका उच्छी प्रकार से पालन-पोषण करना चाहिए, नहीं तो दूध पिलाकर साँप को पालना उचित नहीं है । उनका संग भजन के प्रतिकूल तथा बाधक जानकर उनसे अलग हो जाना चाहिए ।

4. पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि लाख-लाख योनियों में रहना अच्छा है किन्तु कपटता का आश्रय करना कदापि अच्छा नहीं है ।

5. यदि भगवान का आश्रय ग्रहण करूँ तो जागतिक विद्या का अर्जन करने अथवा नहीं करने से, बल रहने अथवा नहीं रहने से कोई असुविधा नहीं होगी ।

6. जो भगवान की सेवा करते हैं या सेवा करने की प्रयोजनीयता की उपलब्धि कर उस सेवा प्राप्ति के लिए यत्नशील होते हैं, वे ही भक्त हैं ।

7. 'तृणादिप सुनीच' भाव ही 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान को मूल से नष्ट करने वाला है ।

8. निर्गुण हृदय में कृष्णनाम उदित होते हैं । सगुण हृदय में कृष्णनाम उदित नहीं होते ।

9. गुरुकृपा के बल से विषयवासनारूपी अग्नि के सम्पूर्ण रूप में बूझने पर ही श्रीकृष्ण का साक्षात्कार प्राप्त होता है ।

10. शास्त्रज्ञान में अधिकार गुरुकृपा के आलोक पर निर्भर करता है । अक्षज (इन्द्रियों से उत्पन्न) ज्ञान से शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा भस्म में घी-की आहुती देने के समान है ।

11. जागतिक वस्तुओं में मिलावट से जो हानि हो रही है, वह पारमार्थिक वस्तुओं में मिलावट की अपेक्षा कम हानिकारक है ।

12. सभी उस परमपुरुष विष्णु की सन्तान हैं और वैष्णव हैं । स्वरूपत: सभी के वैष्णव होने पर भी जिन्होंने महामाया की अधीनता को स्वीकार किया है-उन्हें अवैष्णव कहा जाता है । परमेश्वर विष्णु के भक्त ही वैष्णव हैं ।

13. कपटता पूर्ण जगत् में कपट का ही आदर है । जो साधु जीवों को विपथगामी नहीं करते, ऐसे शुद्ध साधुओं का जगत् में आदर नहीं होता । जो साधु हरिकथा के नाम पर लोगों को विपथगामी करते हैं, ऐसे साधुओं की सेवा ही आजकल कपटी समाज का धर्म बन चुका है ।

14. हम केवल पक्षी की भाँति माया से उत्पन्न इस संसार वृक्ष की कोठरी में वास कर रहे हैं । हम जड़ भोगों को अंगीकार कर इस अनात्म देह और मन को ही आत्म ज्ञान कर रहे हैं और इसी से हमारा सर्वनाश हो रहा है ।

15. वैष्णव कभी अभावग्रस्त नहीं होते । वे सदैव अपने नित्य स्वभाव (कृष्णभक्ति) में अवस्थित रहते हैं । वे वैकुण्ठवासी हैं, उनमें किसी भी प्रकार का कुण्ठा-धर्म नहीं रह सकता ।

16. परमायु का विचार इस धरातल पर रहने मात्र से नहीं किया जा सकता अपितु भागवत धर्म का अनुशीलन कर संकल्प लेने से अर्थात् श्रीहरिभजन के परिमाण से ही निर्णित होता है । मनुष्य चिरकाल तक जीवित रहना चाहता है परन्तु इसका उपाय वह नहीं जानता । केवल भगवान का भजन ही हमें चिरायु प्रदान कर सकता है ।

17. यदि हम भजन के आरम्भ में आने वाली बाधाओं को प्राथमिक अवस्था में ही हटाने का प्रयास न करें तो हमें भक्ति मार्ग में विपद का सामना करना होगा ।

18. मन की चंचलता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए मन को विष्णुदास्य में नियुक्त करना होगा ।

19. जीव की प्रवृत्ति जब तक सम्पूर्ण रूप से निरपेक्ष नहीं हो जाती तब तक वह शुद्धाभक्ति नहीं है ।

20. जिन्होंने श्रीमठ-मन्दिरादि की प्रतिष्ठा एवं परिचालना को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मान लिया है, शुद्धाभक्ति का याजन करना उनके लिए आकाश-कुसुम (आकाश में फूल खिलने) की भाँति असाध्य हो जाता है । इसलिये मठादि की प्रतिष्ठा को ही सर्वश्रेष्ठ प्रयास नहीं मानना चाहिए ।

21. गौड़ीय मठ की प्रतिष्ठा का उद्देश्य हरिसेवा की आड़ में अर्थ-संग्रह करना नहीं है । मठ साधारण लोगों के अनुग्रह के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है । श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन द्वारा ही श्रीगौरांगदेव की सेवा होती है ।

22. जो बाहर से प्रेम का भाव दिखाकर स्वयं को रसिक भक्त कहकर प्रतिष्ठा अर्जन करते हैं किन्तु उनके अन्तर में कृष्ण विरोधी भुक्ति-मुक्ति और सिद्धि की कामनाएँ भरी पड़ी हैं, उनकी वृत्ति भी पूतना के समान ही है ।

23. जहाँ दीक्षा संस्कार के द्वारा द्विजत्व प्रदान नहीं किया जाता, वहाँ यथार्थ दीक्षा-विधान का अभाव है ।

24. हमारी समस्त प्रकार की विपत्तियों और समस्याओं का समाधान एक ही प्रकार से दूर हो सकता है, यदि हम भगवान के विधान पर पूर्णरूप से निर्भर रहें अर्थात् हमें समस्त प्रकार की विपत्तियों को भगवान की कृपा मानकर सहन करना चाहिए ।

25. श्रीकृष्ण के चरणकमलों में मति हो-ऐसा आशीर्वाद या शुभाकांक्षा ही जगत् के लिए कल्याणकारी है ।

26. आजकल सर्वत्र ही निरीश्वर शिक्षा (Godless Education) का प्रचार हो रहा है, जिससे जगत् वासियों का किसी भी प्रकार का कल्याण नहीं हो रहा है और न होगा । श्रीचैतन्य महाप्रभु की दया वितरण करने से ही मनुष्य जाति का सर्वश्रेष्ठ उपकार हो सकता है ।

27. भक्ति की बातों को पुनः-पुनः श्रवण करने से समस्त प्रकार की असत् चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं ।

28. इस जगत् के आकर्षण और विकर्षण से परे होकर, अप्राकृत नाम में आकृष्ट होने से ही कृष्ण-सेवा-रस की कथा समझ में आ सकती है ।

29. हमें अधोक्षज भगवान का सेवक स्वयं होना होगा । पुरोहित अथवा प्रतिनिधि के द्वारा सेवाकार्य नहीं होता ।

30. ब्रज शब्द का अर्थ है-चलना । जो सर्वदा कृष्णेन्द्रिय तर्पण के पथ पर चलते हैं, वही ब्रजवासी हैं ।

31. अर्चन के द्वारा केवल अपना ही मंगल होता है और कीर्त्तन में अपने साथ दूसरों का भी मंगल होता है ।

32. साधारण मायाबद्ध जीव को भक्त मानकर उसकी सेवा करने से कोई भी लाभ नहीं होगा ।

33. उचित समय तथा समस्त प्रकार की सुविधाएँ सब समय नहीं मिलती । अत: हमें समय रहते हुए ही साधुसंग में हरिभजन कर अपना कल्याण कर लेना चाहिए ।

34. सरल व्यक्ति दुर्बल हो सकता है किन्तु कपटी नहीं । दुर्बल व्यक्ति अपनी असुविधा के लिए लज्जित, दु:खित और मर्माहत होता है किन्तु कपटी व्यक्ति सदा अपनी बहादुरी को लेकर ही उन्मत्त रहता है ।

35. अनेक लोग ऐसा अभिनय करते हैं कि जैसे वे भगवान के दर्शनों के लिए बहुत उत्कण्ठित हैं परन्तु उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि गुरु के दर्शनों से ही भगवान के दर्शन होते हैं ।

36. हमारी दृष्टि में ही दोष है, इसीलिए हमें वैष्णवों में भी दोष दिखायी पड़ते हैं । यही कारण है कि सब कुछ करने पर भी हमारा कल्याण नहीं होता ।

37. जो इस जड़ जगत् के प्रति आविष्टता रूपी मृत्यु से हमारी रक्षा न कर सकें वे गुरुपद वाच्य नहीं हैं । वे सब वञ्चक हैं ।

38. संसार के कार्यों को गुरुत्व प्रदान करके उनमें मग्न रहें और हरिभजन के नाम पर कुछ और करें तो ऐसा होने पर अपने हाथों से स्वयं अपना गला काटना होगा ।

39. जिसकी गुरु के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न हो चुकी है, ऐसे वैष्णव यदि हमें उपदेश न करें कि हमें किस प्रकार गुरु के श्रीचरणकमलों का आश्रय लेना चाहिए अथवा श्रीगुरुदेव से कैसा व्यवहार रखना चाहिए तो हम हाथ में आया हुआ रत्न भी खो बैठेंगे ।

40. यदि हम सर्वदा अपने शारीरिक सुखों के लिए ही चेष्टा करते रहेंगे तो अवश्य ही गृहव्रती हो जाएँगे, सदा-सर्वदा केवल श्रीकृष्ण की सेवा के लिए चेष्टा करने से ही हमारा कल्याण हो सकता है ।

41. जो भोगी हैं, जो कपटता करते हैं, जो शठता करते हैं, उनके मुख से हरिनाम उच्चारित नहीं होते । जिनका विश्वदर्शन, भोग्यदर्शन ध्वसं हो गया है, उनका ही निरन्तर हरिनाम होता है ।

42. हम लोग जैसे ही प्रभु सजना चाहते हैं तथा दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं, वैसे ही हम माया या प्रकृति के वशीभूत हो जाते हैं ।

43. भगवान के लिए उत्कण्ठा जागने पर मनुष्य स्वयं को गुरु का पुत्र मानता है । जिसके फलस्वरूप जागतिक माता-पिता, बन्धु-बान्धवों से उसका सम्बन्ध नष्ट हो जाता है । तभी उसका मंगल होगा अर्थात् उसका वास्तविक मठवास होगा ।

44. भक्ति करते हुए हमें अपने पालन एवं रक्षा की चिन्ता नहीं करनी चाहिए । भगवान के शरणागत हो जाने से भक्तों के सभी प्रकार के कष्ट दूर हो जाते हैं ।

45. मेरे गुरुदेव सम्पूर्णरूप से निरपेक्ष हैं । किसी को कृष्ण की सेवा में लगाने को ही वे सर्वश्रेष्ठ दया मानते हैं । परन्तु किसी की रुचि संसार में लगा देने या विषय-भोगों के प्रति किसी को प्रोत्साहन देने को वे सबसे बड़ी हिंसा मानते हैं ।

46. जिसका जैसा अधिकार अथवा भाग्य है उसको उसके अनुरूप ही गुरु की प्राप्ति होती है ।

47. हमें सर्वप्रथम श्रीगुरुदेव के चरणों का आश्रय लेना होगा अर्थात् हमें छोटा होना होगा, यही आश्रय का अर्थ है ।

48. यदि हमारी चित्तवृत्ति गुरु-चरणों में होगी तो हम कहीं भी क्यों न रहें, हमारी सेवा करने की इच्छा बढ़ेगी ।

49. सेवा ही चेतन जीव की जीवित अवस्था है । अत: हम भगवान की सेवा करने पर ही जीवित हैं । सेवाविमुख व्यक्ति मृत हैं । भोगी और त्यागी दोनों ही मृत, दु:खी एवं अशान्त हैं । केवल निष्काम भक्त ही जीवित, सुखी और शान्त हैं ।

50. शारीरिक एवं मानसिक रूप से समृद्ध होने की चेष्टा आत्मा का धर्म नहीं है, अज्ञान का कार्य है ।

51. बहुत से व्यक्तियों को गुरु के समान पूज्य मानने से गुरु अवज्ञा करना हो जाता है ।

52. सभी जीवों को अपने-अपने मंगल के विषय में विचार करना चाहिए । इस विषय में हमें स्वार्थपर होना होगा ।

53. यदि हम निष्कपट रूप से श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करें तो अवश्य ही इसी जन्म में हमें भगवान का साक्षात्कार हो जायेगा ।

54. "भगवान के भक्तों के निकट सबसे अधिक सम्मान प्राप्त करूँगा"-जिस दिन इस प्रकार की दुर्बुद्धि को सैंकड़ों झाड़ुओं के द्वारा साफकर पाऊँगा, जिस दिन अन्य लोगों के निकट से सम्मान प्राप्त करने की आशा से उद्धार प्राप्त करूँगा, उस दिन मैं भगवद्भक्ति प्राप्त करके धन्य होऊँगा ।

55. एकमात्र कृष्णनाम कीर्त्तन के द्वारा ही मन को स्थिर किया जा सकता है । कर्म, ज्ञान, योग आदि के द्वारा कुछ क्षण के लिये मन स्थिर तो हो जाता है परन्तु कुछ क्षण पश्चात् वह पुनः पहले जैसा ही हो जाता है, अपितु उससे भी अधिक चञ्चल हो जाता है ।

56. मैं कुछ नहीं करता और कुछ नहीं करूँगा, भगवान जैसा करवायेंगे, वैसा करूँगा, ऐसे कर्तृत्व अभिमान रहित, निरन्तर भगवान की सेवा में रत भक्त ही जीव का कल्याण कर सकते हैं ।

57. यदि हम अपनी इच्छा से प्रेयपथ (जागतिक कामना) के मार्ग पर चलकर संसार करने के लिए दौड़ें तथा संसार में व्यस्त रहें, तो त्रिताप ज्वाला में हमें निश्चित रूप से जलना ही पड़ेगा ।

58. किसी वस्तु के प्रति भोगदृष्टि न कर, उसे भगवान की सेवा में लगाने का रहस्य जानने पर ही भजन-राज्य में प्रवेश किया जा सकता है ।

59. कृष्ण जिसके सेव्य वस्तु के रूप में प्रकाशित होते हैं, वे किसी दूसरे की सेवा कर ही नहीं सकते ।

60. एकाग्रचित्त होकर हरिकथा सुनने पर ही वास्तविक रूप में साधुसंग होता है और हम भगवान के वीर्य और जगत् की दुर्बलता को समझ सकते हैं ।

61. जब तक हृदय में काम का लेश भी वर्त्तमान रहता है, जिनका चित्त जड़ विषयों की ओर धावित होता है, वे अधीर हैं । उन्हें रासलीला श्रवण-कीर्त्तन का अधिकार नहीं है ।

62. आत्मकल्याण के मार्ग में असुविधाएँ उपस्थित होने पर भी यदि साधक उन्हें सहन कर लेता है तो उसका आत्मकल्याण निश्चित है ।

63. भक्त विद्वेषी के प्रति क्रोध करना ही होगा, यह भजन का विशेष अंग है, ऐसा नहीं करना ही अन्याय है ।

64. जिस वैराग्य या त्याग में 'नेति-नेति' कहते हुए विषयों का त्याग करते-करते अंत में भगवान एवं भक्तों को भी त्याग देते हैं, वह त्याग भी एक प्रकार से भोग ही है ।

65. जब तक चित्त में काम लेशमात्र भी वर्त्तमान रहता है, तब तक रासलीला के श्रवण-कीर्त्तन में जीव का कोई अधिकार नहीं है ।

• • • • • • • •

।। श्री श्रीगुरु-गौरांगौ जयतः ।।

प्र० – आचार्य कौन है?

उ० – आचार एवं प्रचार-परायण भगवद्भक्त ही आचार्य हैं । आचार्य निरपेक्ष तथा मुक्त होते हैं । वे स्वयं सम्पूर्णरूप से असत्संग त्याग तथा निरन्तर कृष्णचर्चा का महान् आदर्श दिखलाते हैं । जो निर्भीक तथा निरपेक्षरूप से सभी को असत्संग त्याग की बात कहकर उनका असत्संग छुड़ा सकते हैं, वे ही आचार्य हैं ।

यदि प्राण न दिया जाये, तो प्रचार नहीं हो सकता । जो प्राण दे सकते हैं, वे ही प्रचार कर सकते हैं ।

प्र० – परतंत्र जीव की स्वतंत्रता कहाँ से आयी?

उ० – हमलोग सर्वतंत्र स्वतंत्र भगवान के अणु चिदंश हैं । इसीलिए पूर्ण वस्तु भगवान के गुण हममें अणुमात्रा में विद्यमान हैं । कृष्ण में पूर्णस्वतंत्रता है तथा जीव में आंशिकरूप में स्वतंत्रता है । विमुखता दो प्रकार की हो सकती है – भोगोन्मुखी तथा त्यागोन्मुखी । पथ दो हैं – एक जड़विलास का पथ तथा दूसरा चिद्विलास का पथ । कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष या तटस्थ अवस्था में स्थित नहीं रह सकता । वह या तो भोगों की ओर, नहीं तो भगवान की सेवा की ओर जाता है ।

यदि सब समय भजन किया जाये, तो माया का आवरण नहीं रह सकता । भजन सब समय होना चाहिए । भजन में किसी प्रकार का छिद्र या दोष होने पर वहीं से उसी छिद्र या दोष का आश्रयकर माया हमें विपत्ति में डाल देती है ।

प्र० – माया का अर्थ क्या है?

उ० – माया – जो नहीं है, वही माया है तथा जो हैं, वे ही भगवान् हैं, Positive something. भगवद्राहित्य Negative idea – माया है ।

प्र० – हमारा प्रभुत्व अभिमान या भोक्ता अभिमान कब कटेगा?

उ० – जब तक हम भगवत्सेवक अभिमान में प्रतिष्ठित नहीं हो जाते, जब तक हमारे हृदय में वैष्णवी प्रतिष्ठा नहीं आ जाती, तब तक हम जगत को अपने भोग्य वस्तु के रूप में देखते हैं, जिससे 'ईशावास्य' जगत दर्शन नहीं होता । ऐसी अवस्था में प्रभुत्व का अभिमान हमारी बुद्धि में घुसा रहता है । केवल दिव्यज्ञान के द्वारा ही हमारी भोग की प्रवृत्ति – हमारी दुर्बुद्धि दूर हो सकती है ।

प्र० – हमारी भगवान के प्रति निर्भरता क्यों नहीं आ रही है?

उ० – जब तक अपनी शक्ति के ऊपर, अपनी आत्मम्भरिता (आत्मचेष्टा) के ऊपर, अपनी अभिज्ञता के ऊपर निर्भर रहने की बुद्धि रहती है, तब तक मनुष्य भगवान के चरणों में शरणागत नहीं हो सकता । प्रपत्ति या शरणागति न आने तक हम आरोहवाद को महत्त्व देंगे । जब हमें अनुभव होगा कि हमारी शक्ति अति तुच्छ है, हमारा अहंकार किसी काम का नहीं है तथा हमारी चेष्टाएँ व्यर्थ हैं, तभी हम शरणागत होकर अवरोहवाद को ग्रहण कर सकेंगे । जब हमारे हृदय में भगवान के आश्रय की महिमा उदित होती है, तभी शरणागति या अवरोहवाद हृदय में उदित होता है । अत: जो जहाँ पर है, वहीं पर रहकर साधुओं (कृष्णभक्तों) के मुखद्वार से अवतीर्ण वैकुण्ठवार्ता (हरिकथा) को श्रवण करना चाहिए । तभी सभी समस्याओं का समाधान हो सकेगा तथा भगवान के प्रति निर्भरता आ जायेगी ।

प्र० – हम तो परोपकार को ही धर्म मानते हैं । इस विषय में आपका क्या मत है?

उ० – परोपकार अच्छी चीज़ है किन्तु इसमें दो स्थानों पर बहुत बड़ा दोष है । एक तो व्यक्तरूप से इसमें निरीश्वरता का आवाहन है, दूसरा – इसमें पशुजाति या दूसरे प्राणियों के प्रति हिंसा है ।

Absolute Integer (चरम पूर्ण वस्तु) को neglect (उपेक्षा) करके जो कुछ भी किया जाये, उसका कुछ भी मूल्य नहीं है । हम परमार्थ को सुविधावाद की सेवा में नियुक्त करने के पक्षपाती नहीं हैं । साधु से जागतिक सेवा करवा लेने की चेष्टा में साधुत्व के प्रति आदर नहीं है । मानवजीवन का कार्य केवल ऐसा सामान्य Altruism (परोपकार) नहीं है । मानवजीवन का और भी एक बहुत बड़ा कार्य है – भगवान की सेवा । भगवान की सेवा के द्वारा ही चिरकाल के लिए दुःख दूर हो जायेंगे तथा चिरकाल के लिए सुखी हुआ जा सकेगा । इसीलिए हमारा मनोरथ है कि हम सारे जगत को कृष्ण भक्त करेंगे । भगवान की सेवा ही चेतन का धर्म – आत्मा का धर्म – नित्यधर्म या परधर्म है ।

भगवान चैतन्यदेव ने जगत में परमधर्म की कथाओं का ही प्रचार किया है । उसी से जगत का सम्पूर्ण रूप से उपकार तथा कल्याण होगा । श्रीचैतन्यदेव ने कहा है –

भारत भूमिते हइल मनुष्य जन्म यार ।
जन्म सार्थक करि कर पर – उपकार ।।

अर्थात् भारत भूमि में जिसका मनुष्य रूप में जन्म हुआ है, वह भगवान का भजनकर अपने जीवन को सार्थक बनाकर परोपकार करें ।

श्रीचैतन्यदेव ने देश एवं जीवों के उपकार की बात ही कही है । किन्तु उनके देश एवं जीव तथाकथित समाजकल्याणप्रार्थी व्यक्तियों की भाँति क्षुद्र, संकीर्ण, अस्थायी, परिवर्तनशील या आकाश – कुसुम के समान काल्पनिकमात्र नहीं हैं । उनके द्वार कथित उपकार पर अर्थात् श्रेष्ठ है, अपर अर्थात् निकृष्ट या अनित्य नहीं है । मानव जाति ने अपनी क्षुद्र विचारबुद्धि से परोपकार के लिए देश एवं जीवों की उन्नति के लिए जो उपाय किये हैं, कर रहे हैं तथा भविष्य में भी जो असंख्य उपाय करेंगे, उनके द्वारा कभी भी देश एवं जीवों का वास्तविक उपकार या

कल्याण नहीं होगा । वे तो सब प्रस्तावित अनित्य उपकार के प्रयासमात्र हैं । महाप्रभु ने वास्तविक पर-उपकार की प्रणाली कही है-

वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।

श्रीमद्भागवत की प्रणाली ही श्रीचैतन्यदेव के द्वारा आविष्कृत तथा परिष्कृत प्रणाली है । वही प्रणाली कल्याणकारक तथा तीनों तापों को नाश करने वाली है । जगत में ऋषि-मुनियों के द्वारा जितनी भी परोपकार की प्रणालियाँ बना दी गयी हैं, उनसे क्षणिक सुख या प्रेयः तो प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु वह आत्मकल्याणकारी या श्रेयोदानकारी नहीं है अर्थात् उससे तीनों तापों का नाश नहीं होता । तापों का मूल कारण क्या है, इसे जानना आवश्यक है । क्योंकि कारण का नाश किये बिना कार्य का नाश सम्भव नहीं है । वटवृक्ष की जड़ को उखाड़े बिना हज़ारों बार उसकी शाखाओं को काटने पर भी वह पुनः उग आता है । मनुष्य के द्वारा कल्पित जो हज़ारों परोपकार की प्रणालियाँ हैं, वे हाथों के द्वारा समुद्र के जल को बाहर फेंककर समुद्र को सुखाने के समान ही हैं । यदि हजारों लोग युगों-युगों तक ऐसा प्रयास करते रहें, तो भी समुद्र कभी सूखेगा नहीं । हाँ, यह देखा जायेगा कि उस उपाय का अवलम्बन करने पर एक स्थान पर बहुत परिमाण में पानी जमा हो गया है । उसी प्रकार जगत का त्रितापरूप समुद्र मनुष्य के द्वारा कल्पित परोपकार के उपायों के द्वारा कभी सूखेगा नहीं, लोगों को मिथ्या प्रलोभन देना तथा स्वयं मिथ्या प्रलोभन में पड़ना ही होगा ।

श्रीमद्भागवत में वर्णित प्रणाली के बिना कभी भी त्रितापों का विनाश नहीं हो सकता । इन तापों की अनन्त विचित्रताएँ हैं, हम कभी भी ऐसे कल्पित उपायों के द्वारा अनन्त तापों में से एक को भी जड़ से नाश नहीं कर सकते । भगवद्विस्मृति रूपी आवरणात्मिका तथा विक्षेपात्मिका अविद्या ही हमारे समस्त तापों का मूल कारण है । उस कारण के नाश हुए बिना तापवैचित्र्यरूप कार्य का भी नाश नहीं होगा ।

भगवान की सेवा का प्रचार किये बिना कभी भी देश का दुःख नष्ट नहीं होगा । भगवान की सेवा की कथाओं का प्रचार होने पर ही समस्त देशों के समस्त लोगों का सार्वकालिक कल्याण होगा ।

प्र० – विष्णु की सेवा करने पर किस प्रकार से जगत की सेवा एवं परोपकार हो सकता है?

उ० – विष्णु व्यापक वस्तु हैं । वे परब्रह्म अर्थात् सर्वापेक्षा बृहत् वस्तु हैं । उनकी सेवा करने से ही हमारी उनके अन्दर स्थित निखिल वस्तुओं या सबकी सेवा हो जायेगी । किसी विशेष अश्व का सेवक सभी अश्वों का सेवक या किसी अन्य प्राणी का सेवक नहीं हो सकता, किसी विशेष देश का सेवक समस्त देशों का सेवक नहीं हो सकता, किसी विशेष समय का सेवक सार्वकालिक सेवक नहीं हो सकता । यदि कोई बकरी या मछली को मारकर जिह्वा की सेवा करता है, तो वह एक तरफा सेवा या प्रीति होती है, उससे बकरी या मछली की सेवा या प्रीति नहीं होगी । किसी मनुष्य या किसी विशेष देश की सेवा करते समय दूसरे मनुष्य या दूसरे देश पीड़ित होते हैं । किन्तु विष्णु की सेवा करने से समस्त वस्तुओं की ही सेवा हो जाती है, उससे सभी प्रसन्न हो जाते हैं । श्रीचैतन्य महाप्रभु की दया अमन्दोदया, सार्वजनीन दया है । वह समस्त देशों, समस्त कालों तथा समस्त पात्रों के लिए मंगलदायक है ।

प्र० – महामंत्र में जो 'हरे राम' है, वे कौन से राम हैं?

उ० – ऐश्वर्यपर विचार से जो सेवोन्मुखता है, उसमें 'हरे राम' से दशरथी राम को ही समझा जाता है, किन्तु माधुर्यपर भक्त राधारमण को ही राम के रूप में जानते हैं । वे नन्दनन्दन हैं । जहाँ पर राम शब्द से राधारमण की सेवा विहित होती है, वहाँ पर हरा शब्द के सम्बोधन-पद में पराशक्ति के आकर विग्रह श्रीराधारानी को ही समझा जाता है । श्रीराधारानी का एक नाम हरा है । **कृष्णमनो हरति इति हरा अर्थात् राधा** (जो कृष्ण के मन को हरण करती हैं अर्थात् राधा) ।

हरा शब्द के सम्बोधन में हरे होता है । हरि शब्द के सम्बोधन में भी हरे होता है ।

राम तीन हैं–सीतारमण, रेवती रमण अर्थात् बलराम तथा राधारमण राम अर्थात् राधानाथ कृष्ण ।

प्र० – वास्तव सत्य का अनुसन्धान हम कैसे पा सकते हैं?

उ० – सविशेषविग्रह भगवान ही वास्तव सत्य हैं । वे ही एकमात्र समस्त कारणों के कारण हैं । वास्तव सत्य स्वप्रकाश हैं, वे अचेतन नहीं हैं, परन्तु स्वत:कर्तृविशिष्ट हैं । वे स्वयं को स्वयं ही प्रकाशित करते हैं । अभिज्ञता की प्रणाली या आरोह पन्था के द्वारा वास्तव सत्य का सन्धान नहीं पाया जा सकता । वास्तव सत्य तृतीय मान (third dimension) के अन्तर्गत वस्तु नहीं हैं । जो तृतीय मान के अन्तर्गत हैं, हम केवल उसी को ही माप सकते हैं, वह हमारे अधीन भोग्य वस्तु है । जिसे मापा जाये, वही माया है ।

जैसे सूर्य को देखने के लिए हमारे नेत्रों की आवृत अवस्था दूर होना अति आवश्यक है, उसी प्रकार वास्तव सत्य को धारण करने के लिए हमारे अन्तर्निहित अतीन्द्रिय शक्ति के उदित होने तक अपेक्षा करना आवश्यक है । जिस प्रकार रात्रि के समय हजारों शक्ति सम्पन्न वैद्युतिक दीपों के द्वारा भी सूर्य को नहीं देखा जा सकता, परन्तु सूर्य के उदित हो जाने पर वैद्युतिक प्रकाश के द्वारा सूर्य दर्शन की आवश्यकता नहीं रह जाती, उसी प्रकार वास्तव सत्य वस्तु को भी किसी प्रकार के इन्द्रियज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता । आवृत अवस्था में वास्तवसत्य के स्वरूप को नहीं जाना जा सकता, श्रीगुरुमुख से ही सत्यवस्तु के विषय में श्रवण करना चाहिए । इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ।

प्र० – सत्य कौन है, इसे समझने से पहले किस प्रकार से हम शरणागत हो सकते हैं?

उ० – सर्वप्रथम शरणागत नहीं होने पर सत्य वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती । जब तक हम शरणागत नहीं होंगे, तब तक हम

धर्मसम्मूढ़चित्त तथा संशयात्मा होकर विनाश के पथपर ही दौड़ते रहेंगे । इसलिए अर्जुन कृष्ण से कह रहे हैं – **शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।**

जिनके चरणों में हम शरणागत होंगे, वे यदि मर्त्य व्यक्ति हुए, तो वे पारमार्थिक गुरु कहलाने योग्य नहीं हैं । मर्त्यजीव अर्थात् जिसे हम माप सकते हैं, ऐसे अधीन भोग्यवस्तु पारमार्थिक गुरु नहीं हैं । उसके चरणों में शरणागत होने पर हम कभी भी वास्तव सत्य के निकट नहीं जा सकते । श्रीगुरुदेव कृष्ण की शक्ति – कृष्णतत्त्वविद् – कृष्ण से अभिन्न तथा कृष्ण के ही द्वितीय स्वरूप या प्रकाश हैं ।

प्र० – ये ही सद्गुरु हैं, इसे हम कैसे समझ सकते हैं?

उ० – आपलोग अपनी बुद्धि के विचार से जिसे गुरु के रूप में ग्रहण करेंगे, ऐसा आरोपित व्यक्ति कभी भी गुरु नहीं हो सकता । ऐसा गुरु आपके वशीभूत वस्तु होगा – आपके इन्द्रियज्ञान के अधीन होगा । स्वयं कृष्ण जिन्हें आपके गुरु के रूप में भेजेंगे, वे स्वयं ही आपके पास बाहर में महान्तगुरु के रूप में प्रकाशित होंगे ।

प्र० – आत्मा का धर्म क्या है?

उ० – आत्मा अज वस्तु है, उसकी जननी कोई नहीं है । आत्मा की वृत्ति भोग या त्याग चाहना नहीं है – 'देहि देहि' (दो, दो) की बात आत्मा में नहीं है । आत्मा परतत्त्व का Associated counterpart है । परतत्त्व के सुख की कामना या उसका दास्य ही आत्मा की वृत्ति, धर्म या स्वार्थ है ।

प्र० – विलास तथा विराग का अर्थ क्या है?

उ० – वि पूर्वक लस् धातु से विलास शब्द निष्पन्न हुआ है । विलास का अर्थ है – इन्द्रियों की क्रिया । विराग – विषयराग या इन्द्रियचालना से अलग होकर रहना है । विलास के आधिक्य में विराग का अभाव तथा विराग के आधिक्य में विलास का अभाव है । इस जगत में विलास या जड़ सविशेषवाद एवं विराग या जड़ निर्विशेषवाद दोनों ही अप्रयोजनीय

हैं । विलास भगवत्सेवा तथा विराग – कृष्णप्रीति के लिए भोग – त्याग है । शान्त के जो दो गुण हैं – कृष्णनिष्ठा, तृष्णात्याग, इसी का नाम कृष्ण भक्तों का विराग है । तथा नित्यनवनवायमान भाव से चिल्लीलामिथुन का इन्द्रियतर्पण करना ही विलास है ।

प्र० – क्या शब्द का नित्यत्व है?

उ० – अप्राकृत शब्दब्रह्म का निश्चय ही नित्यत्व है । कुण्ठाराज्य में शब्द तथा शब्दी में भेद है । अत: इस जगत् में जड़ शब्द अनित्य हैं । वैकुण्ठ जगत में नाम तथा नामी एक वस्तु हैं – शब्द तथा शब्दी में कोई भेद नहीं है ।

प्र० – जत मत, तम पथ (जितने मत, उतने पथ) – क्या यह बात सत्य है?

उ० – मत मनोधर्म है । भिन्नरुचिर्हि लोका: – असंख्य लोगों के असंख्य प्रकार के मन के विचार या रुचि हैं । लोगों की रुचि के अनुसार जो पथ सृष्ट हुआ है, हो रहा है या होगा, वह कभी भी आत्मधर्म या सनातन धर्म नहीं है । जगत में मनोधर्मपरक अनेक मतों की सृष्टि हुई है तथा होगी, किन्तु शास्त्रसम्राट श्रीमद्भागवत कह रहे हैं –

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ।।

जगत में जितने भी मत, उतने पथ – सभी अक्षजज्ञानप्रसूत मत या उनके अनुकूल पथ हैं । किन्तु श्रीहरि के प्रति जो अप्रतिहता तथा अहैतु की भक्ति है, वही समस्त जीवों का परमधर्म या आत्मधर्म है । आत्मा केवल इसी के द्वारा ही प्रसन्न होती है । अन्यान्य धर्ममतों तथा पथों के द्वारा देह या मन की कुछ मात्रा में प्रसन्नता होने के कारण देहधर्मी या मनोधर्मी मानव इन सब प्रेय: मत या प्रेय: पथ को ही असली मत या पथ मान लेते हैं ।

सत्य सत्य Living source से परमसत्य की कथाओं को सुनना चाहिए, तभी जीव का नित्य वास्तव चरम मंगल हो सकता है । अन्यथा मनुष्य प्रतिमुहूर्त्त ही विपथगामी होगा ।

प्र० – क्या शुद्ध भक्तों के संग की विशेष आवश्यकता है?

उ० – निश्चय ही । कनिष्ठ अधिकारी या कोमल श्रद्धावाले व्यक्ति वास्तव में श्रीमूर्त्ति की उपासना नहीं समझ सकते । उनकी श्रीमूर्त्ति में प्राकृत या जड़बुद्धि सम्पूर्णरूप से दूर नहीं होती । वे भक्तों के प्रकृततत्त्व तथा मर्यादा को समझ नहीं सकते । इसीलिए साधुगुरु कोमल श्रद्धावाले कनिष्ठाधिकारियों को शुद्ध भक्तों का संग करने के लिए कहते हैं । शुद्ध भक्तों के संग के बिना मानव का कभी भी नित्य वास्तव चरम मंगल नहीं हो सकता और न ही उनकी यथार्थ मूर्त्तिपूजा होती है ।

प्र० – कोई – कोई कहते हैं कि श्रीमूर्त्तिपूजा एक means to an end अर्थात् साध्य प्राप्त करने का उपायमात्र है, क्या यह बात ठीक है?

उ० – कभी नहीं । यह भी एक प्रकार का प्रकाण्ड Blasphemy (अपराध) है । श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है –

प्राकृत करिया माने विष्णु कलेवर ।
विष्णुनिन्दा नाहि आर इहार उपर ।।
ईश्वरेर श्रीविग्रह – सच्चिदानन्दाकार ।
से विग्रहे कह – सत्त्वगुणेर विकार ।।
श्रीविग्रह ये ना माने सेइ त पाषण्ड ।
अस्पृश्य, अदृश्य सेइ हय यमदण्ड्य ।।

अर्थात् यदि कोई विष्णु के कलेवर या मूर्त्ति को प्राकृत अर्थात् जड़ मानता है, तो इससे अधिक विष्णुनिन्दा और नहीं हो सकती । ईश्वर का विग्रह सच्चिदानन्दमय होता है, जो इस विग्रह को मायिक सत्त्वगुण का विकार कहता है तथा जो श्रीविग्रह को नहीं मानता, वह पाषण्डी है । वह अस्पृश्य, अदृश्य है तथा वह यमराज के दण्ड का अधिकारी है ।

विष्णुमूर्त्ति चिन्मयी होती है, अन्यान्य देवताओं की भाँति मानवकल्पित नहीं होती । शास्त्र कहते हैं–

नाम, विग्रह, स्वरूप – तिन एकरूप ।
तिने भेद नाहि, तिन चिदानन्दरूप ।।

अर्थात् भगवान का नाम, उनका विग्रह तथा उनका स्वरूप तीनों एक समान हैं, उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है । तीनों ही चिदानन्दरूप होते हैं ।

कृष्ण विग्रह साक्षात् कृष्ण ही हैं । श्रीविग्रह भगवान का अर्चा – अवतार है । हमारे हृदयदेवता ही कृपाकर बाहर में श्रीमूर्त्ति के रूप में प्रकाशित होते हैं ।

प्र० – भगवान कौन हैं?

उ० – भगवान अधोक्षज वस्तु हैं । अधोक्षज शब्द का अर्थ है – जड़ इन्द्रियों से अतीत । Godhead is He who has reserved the absolute right of not being exposed to present human senses. उसी को भगवान कहते हैं, जो कभी भी मनुष्य या प्राणी जगत् के भोगोन्मुख जड़ इन्द्रियों के अधीन नहीं होते । उन्होंने यह अधिकार सम्पूर्णरूप से अपने ही हाथ में रखा है ।

प्र० – जीव बद्ध क्यों हुआ?

उ० – जीव की free will है, अर्थात् जीव की स्वतंत्र इच्छा है । उसी का अपव्यवहार होने के कारण वह बद्ध हो गया है ।

प्र० – गीता तथा श्रीमद्भागवत में क्या वैशिष्ट्य है?

उ० – श्रीमद्भागवत निरपेक्ष वास्तव सत्य का प्रचारक है । वह निर्मत्सर सज्जनों का परमप्रिय वस्तु है । गीता Infant class का course अर्थात् शिशु श्रेणी का पाठ्य है । श्रीमद्भागवत उच्चश्रेणी का अर्थात् Post Graduate श्रेणी का (पारमार्थिक बी. ए. परीक्षोत्तीर्णगणों का) पाठ्य है । जो पारमार्थिकता की कोई बात ही नहीं जानते, उन्हें

प्रवेशिका-परीक्षा के उपयोगी करने के लिए गीता शास्त्र है तथा जिन्होंने पराविद्या में M. A., Ph.D. की है, श्रीमद्भागवत में उनका ही सम्पूर्ण अधिकार है ।

निरपेक्ष सज्जनगण गीता तथा भागवत में किसी प्रकार का भेद नहीं देखते । जगत में जितने भी श्रेष्ठ विशेषण हैं, व्याकरण में जितने भी तमप् प्रत्यय हैं, वे सभी भागवत के चरणों में शोभा पाते हैं । भागवत में आत्मधर्म की बात है । श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान का अवतार है । श्रीमद्भागवत की असमोर्ध्व पदवी को कोई एक केश के बराबर भी हिला-डुला नहीं सकता । परमार्थ राज्य में नये प्रवेशेच्छुक लोगों के लिए-पारमार्थिक-विद्यायल के शिशुश्रेणी के लिए गीता ग्रन्थ निर्दिष्ट हो सकता है तथा जिन्होंने गीता का अध्ययन समाप्त कर लिया है, वे ही परमार्थ विद्यालय में उच्चशिक्षा प्राप्ति के लिए महाभागवतों के निकट भक्तिपूर्वक श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का श्रवण कर अच्छी प्रकार से पाठ एवं विचारकर प्रचुर मात्रा में लाभवान् हो सकते हैं ।

श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवान का अवतार-अधोक्षज वस्तु है । उसे हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा माप नहीं सकते । जो वस्तु जितनी ही दुर्लभ एवं परम सत्य है, वह उतनी ही सुरक्षित होती है । विमुख लोगों के समक्ष भागवत अपने को प्रकाशित नहीं करते ।

प्र० – चैत्यगुरु क्या करते हैं?

उ० – भगवान प्रत्येक जीव के हृदय में चैत्यगुरु (अन्तर्यामी) के रूप में अवस्थान करते हुए जीव की सत्-असत् वृत्तियों को नियमित करते हैं, ऐसे प्रयोजक कर्ता के रूप में चैत्यगुरु परिलक्षित होते हैं । चैत्यगुरु महान्त गुरु का निर्देश करते हैं । इसके अतिरिक्त महान्तगुरु के सेवक-सम्प्रदाय वर्त्मप्रदर्शक गुरु का कार्य करते हैं ।

शास्त्रकीर्त्तनकारी, शास्त्रव्याख्याकारी, शास्त्रशासनानुमोदित तथा अनुष्ठानकारी व्यक्ति अनर्थयुक्त, अनभिज्ञ एवं बालिशों के चंचल चित्त

को सुष्ठुगति प्रदान करते हैं । ऐसे शिक्षागुरु दिव्यज्ञानदाता – गुरु (दीक्षागुरु) की प्राप्ति से पूर्व सहायता करते हैं, इसलिए इन्हें वर्त्म या पथप्रदर्शक गुरु कहते हैं । चैत्त्यगुरु की कृपा के बिना वर्त्म प्रदर्शक गुरु, दीक्षागुरु तथा शिक्षागुरुवर्ग की चरणसेवा प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती । कृष्णप्रसादज सुकृति अर्थात् कृष्ण की कृपा नहीं होने तक जीव चैत्त्यगुरु की निष्कपट कृपा प्राप्त नहीं कर सकते । जीवों के हृदय में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की कामना प्रबल होने पर वे भक्तिप्रार्थी नहीं हो सकते । भाग्यक्रम से भगवान के चरणों में आश्रय ग्रहण करने की इच्छा होने पर चैत्त्यगुरु कृपाकर दीक्षागुरु तथा शिक्षागुरु के प्रति विश्वास प्राप्त करने के लिए कृपा प्रदान करते हैं ।

चैत्त्यगुरु की कृपा से ही महान्त गुरु निर्दिष्ट होते हैं । चैत्त्यगुरु की कृपा दो प्रकार की होती है । उन दो प्रकार की कृपा के माध्यम से कोई आध्यक्षिक तो कोई अधोक्षज भगवान के सेवक हो जाते हैं । जड़ में प्रतिष्ठित होकर जिन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया है कि इन्द्रियतर्पण ही जीव का एकमात्र आराध्य वस्तु है, उनका ही नाम अन्याभिलाषी है । वे श्रेयः पथ के पथिक न होकर क्षणिक सुखप्रद प्रेयः पथ के पथिक हैं । यही चैत्त्यगुरु की कपट कृपा है । कपटी ही कपट कृपा पाते हैं । परन्तु निष्कपट भक्ति के इच्छुक सज्जन लोग चैत्त्यगुरु की निष्कपट कृपा पाकर धन्य हो जाते हैं । जो भगवान का सेवक होने के अतिरिक्त अन्य कुछ चाहता है, वे कपटी के अतिरिक्त और क्या है?

शिक्षागुरु दीक्षागुरु के वास्तव ज्ञानलब्ध शरणागत शिष्य को ही शिक्षा दिया करते हैं । इसलिए शिक्षागुरु का बहुत्व होने पर भी अद्वयज्ञानदाता दीक्षागुरु के साथ उनका मतभेद नहीं होता, बल्कि वे दीक्षागुरु के असली बन्धु होते हैं ।

दिव्यज्ञान प्राप्ति के पश्चात् जीव का स्वरूप उदित हो जाने पर जो हरिसेवा की प्रणाली की शिक्षा देते हैं, ऐसे उपदेशकों का नाम ही शिक्षागुरु वर्ग है । ऐसे सेनावाहिनी के अग्रगामी वर्त्मप्रदर्शक गुरु शिक्षागुरु का ही पूर्वभाव है, बीच में दीक्षादाता महान्तगुरु अवस्थान करते हैं ।

भगवान चैत्त्यगुरु के रूप में जिनके निष्कपट मंगल की इच्छा करते हैं, वे ही भगवद्भक्त को महान्तगुरु या सद्गुरु के रूप में जानने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं । भगवान के अनुग्रहक्रम से जीव महाभागवत श्रीगुरुदेव का दर्शन पाकर अपने जीवन को धन्य करने में समर्थ हो जाता है ।

प्र० – मन्त्र ग्रहण करके भी हमारा मननधर्म दूर क्यों नहीं हो रहा है?

उ० – हमने मंत्र ग्रहण नहीं किया है । मंत्र देने का मतलब कान में फूँक देना नहीं है । दिव्यज्ञान का नाम दीक्षा है । यह दिव्यज्ञान हमारे जन्म – जन्मान्तरों के समस्त अविद्या – अज्ञान के भवन को चूर्ण – विचूर्ण कर वहाँ पर अधोक्षज – अज्ञान के नित्यवास्तव भित्तिमय भवन का निर्माण कर देता है । दिव्यज्ञान देते समय भगवान ने ब्रह्मा को कहा था – 'मैं ही वास्तव सत्य हूँ '। यह वास्तवसत्य शक्तिद्वारा संचारित होता है । वह शक्ति ही गुरु है । क्षुद्र – क्षुद्र Agent या Messenger जगत में आते रहते हैं । किन्तु जो सब महाशक्तिशाली Messengers Sent by god to suit the adaptability of all the recipients, उन sole Agents का नाम गुरु है । उन Expert से ही Revelation (रहस्योद्घाटन) होता है । ऐसे गुरु ही हमारे मननधर्म को दूरकर हमारी चेतना की वृत्ति में युगान्तर ला सकते हैं ।

गुरुदेव से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह जड़ ज्ञान नहीं है, वह अधोक्षज ज्ञान या दिव्यज्ञान है । वह ज्ञान साक्षात् Absolute knowledge या कृष्ण, पूर्णज्ञान, साक्षात् सम्विद् विग्रह है । मंत्र

पूर्णचेतन वस्तु है । मंत्र मननधर्म से हमारा उद्धार कर सकता है, पापपुण्यमय मनोधर्म से उद्धार कर पारमार्थिक योग्यता प्रदान कर सकता है, मंत्र की ऐसी शक्ति है ।

प्र० – क्या जीव पुरुष है?

उ० – जीव या आत्मा स्वरूपत: स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं है । स्त्री – पुरुष तो केवल देह का परिचयमात्र है । जीव देह नहीं है, जीव देही – आत्मा है । आत्मा परमात्मा का सेवक है । जीव जड़ नहीं है, चेतन है । आत्मा परमात्मा का दर्शन प्राप्त करता है । आत्मा परमात्मा के साथ बात कर सकता है । भावानुसार जीव का चेतन देह प्रकाशित होता है । जो मधुररस से भजन करते हैं, वे स्त्री – मूर्त्ति कृष्ण की कान्ता हैं तथा जो सखाओं के आनुगत्य में सेवा करते हैं, उनका पुरुष – देह है । जीव का नित्यशुद्ध देह चिन्मय है, उसमें स्त्री – पुरुष का भेदभाव नहीं है । जब जैसा भाव होता है, उसके अनुसार ही शुद्धजीव स्त्रीत्व या पुरुषत्व प्राप्त करता है ।

प्र० – सद्‌गुरु चरणाश्रय का क्या फल है?

उ० – जीव सद्‌गुरु के आनुगत्य के द्वारा भजनराज्य में चरम उन्नति प्राप्त कर सकता है । गुरु – कृष्ण की सेवा के फल से प्राकृत अभिमान नष्ट होने पर जीव को गोलोक – प्राप्ति होती है । जीव निष्कपट सेवा के फल से मुक्तगण का, यहाँ तक कि नित्यमुक्तों के समपर्यायभुक्त अर्थात् उनके समान भाव को प्राप्त कर सकता है । श्रीगुरु – नित्यानन्द रक्तमांस के पिण्डमात्र नहीं हैं । श्रीगुरु – नित्यानन्द का पदाश्रय करने पर जीव के समस्त ताप दूर हो जाते हैं ।

प्र० – संसार अच्छा क्यों लगता है?

उ० – गुरु – वैष्णवों को उद्वेग देने से लोगों का अमंगल होता है । वे साधारण मनुष्य नहीं हैं, गुरु – वैष्णव वज्र से भी कठोर तथा कुसुम से भी कोमल होते हैं । जगत के लोगों तथा विष्णुभक्तों के साथ

एक समान व्यवहार करने पर कल्याण नहीं होगा । गुरु-वैष्णवों को लेकर खेल करना उचित नहीं है । ऐसा करने पर अमंगल होना निश्चित है ।

सिर झुकाकर शासन स्वीकार न करने पर उसे शिष्य नहीं कहा जा सकता । मठवासी का आचार-विचार छोड़ देने पर संसारी होना पड़ेगा । मठ का स्वार्थ एवं मठसेवा का गुरुत्व या माहात्म्य अनुभव न होने पर ही संसार अच्छा लगेगा । मठ साक्षात् वैकुण्ठ है तथा संसार नरक का द्वार स्वरूप है । भगवत्-कृपा से विमुख होने पर ही जीव का पतन या संसार होता है । श्रीमद्भागवत (3/9/10) में कह रहे हैं-

अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना,
नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव,
युष्मत्प्रसंगविमुखा इह संसरन्ति ।।

अधोक्षज कृष्ण की निरन्तर सुख कामना का नाम ही सेवा है । सर्वक्षण कृष्णसेवा की चेष्टा के अतिरिक्त हमारा अन्य कोई कार्य नहीं है । श्रीनामभजन से ही सर्वसिद्धि होती है । श्रीनाम भजन के बिना नामी का भजन नहीं होता । कृष्ण का दास होने पर ही हमारा मंगल होगा किन्तु माया की सेवा करने पर अमंगल के हाथ से हमारा उद्धार नहीं है ।

प्र० – हरिकथा सुनने पर भी हमारा मंगल क्यों नहीं हो रहा है?

उ० – कान बन्दकर श्रवण करने पर क्या होगा? अन्यमनस्क होकर श्रवण करने पर तो श्रवण नहीं होगा । अन्यमनस्क की तो बात ही क्या, केवल मन देकर सुनने से भी नहीं होगा क्योंकि मन तो अस्थिर है । सुनने का अर्थ है – आचरण करना । श्रवणीय विषय का आचरण न करने पर उसका फल कैसे प्राप्त हो सकता है? इसीलिए प्राण देकर हरिकथा सुननी चाहिए । तभी उसका फल प्राप्त होगा ।

प्र० – भक्ति एवं भोग क्या अलग – अलग वस्तुएँ हैं?

उ० – अवश्य ही । भक्ति एवं भोग एक वस्तु नहीं हैं । जहाँ पर भक्ति है, वहाँ पर भोग नहीं है । जहाँ पर भोग है, वहाँ पर भक्ति नहीं है । भोक्ताभिमान से भोग होता है तथा भगवत्सेवक के अभिमान से भक्ति होती है । भोग अन्धकार – स्वरूप तथा भक्ति प्रकाशमयी है । भोग – निजेन्द्रियतर्पणमय तथा भक्ति – कृष्णसुखविधानमयी है । जब हम भोगों की ओर जाते हैं, तब शोक, मोह तथा भय हमें घेर लेते हैं । तब अनित्य वस्तु में आसक्त होने का परिणाम भगवान हमें समझा देते हैं । अत: सतर्क होकर भगवान का भजन करना ही बुद्धिमान् का कार्य है । भोग तो दु:खों का रास्ता है किन्तु भक्ति सुख प्राप्ति का उपाय है ।

प्र० – भक्त का दर्शन कैसे होता है?

उ० – भक्त समस्त वस्तुओं को भगवान की सेवा का उपकरण मानते हैं । भोग्य – दर्शन के स्थान पर सेव्यदर्शन होने पर सेव्य के उपकरण भी हमारे लिए सेव्य हैं – उनका ऐसा विचार होता है । हरिकथा श्रवण, कीर्त्तन तथा स्मरण में नैरन्तर्य न रहने पर भोग्यविचार हमें ग्रास कर लेगा । यदि हम प्रजल्पों में मग्न हो जाऐं – व्यर्थ की बातों में प्रमत्त हो जाऐं, तो सत्संग तथा भगवान की सेवा का विचार खो बैठेंगे, ग्रामवास कर बैठेंगे तथा नाना प्रकार की असुविधाओं में पड़ जायेंगे ।

हरिकथा श्रवण – कीर्त्तन ही साधन तथा साध्य है । हमने कितने भाग्य के फल से मनुष्यजन्म पाया है । कितने भाग्य के फल से गुरुकृष्ण की कृपा से भगवान की सेवा का सौभाग्य प्राप्त किया है । यदि हम प्रजल्पों में ही समय बिता दें, तो यह सौभाग्य का अनादर करना हो जाता है । अत: सब समय हरिकथा आलोचना तथा हरि सम्बन्धीय विषयों का अनुशीलन करना ही कर्त्तव्य है । इसी के द्वारा ही जीव भक्त हो सकता है । सुदर्शन प्राप्त कर कुदर्शन – मांसदर्शन या भोग्यदर्शन से बचकर सुखी हो सकते हैं ।

प्र० – श्रेयः एवं प्रेयः क्या एक ही वस्तु हैं?

उ० – कभी भी नहीं । जिससे हमारा वास्तविक (नित्य) कल्याण होता है, वही श्रेयः है । हमें जो अच्छा लगता है, वही प्रेयः है तथा जिससे हमारा भला होता है, वही श्रेयः है । इन दोनों के बीच स्वतंत्रता की स्थिति है । स्वतंत्रता से ही दोनों प्रकार की विचारधाराओं का उदय होता है । एक प्रकार का विचार – श्रेयः है तथा दूसरे प्रकार का विचार – प्रेयः है । जहाँ पर श्रेयः एवं प्रेयः एक हो जाते हैं, अर्थात् भगवान की सेवा ही प्रीति की वस्तु हो जाती है, वहाँ पर सबकुछ ठीक है । किन्तु ऐसा न करके अर्थात् श्रेयः को त्यागकर जब हम प्रेयः में ही व्यस्त हो जाते हैं, तब हमें असुविधाओं में पड़ना पड़ता है । जहाँ पर श्रेयः एवं प्रेयः एक हो गये हैं, वहाँ पर कृष्णानुशीलन के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य नहीं हो सकता । मापारानी (मापने की वृत्ति अर्थात् मायारानी) के अधीन जो अपने सुख की चेष्टा है, उसमें सर्वनाशकर प्रेयः का प्रलोभन है । उसमें श्रेयः का कोई विचार ही नहीं है ।

जहाँ पर निष्कपट रूप से भगवान की सेवा है, वहाँ पर भगवान को भी आनन्द होता है तथा हमें भी सेवानन्द की प्राप्ति रूप श्रेयः प्राप्त होता है । श्रेयः का त्यागकर प्रेयः की ओर धावित होने पर ही हम असुर हो पड़ते हैं । उस समय हम भगवान के सुख की चेष्टा से उदासीन होकर अपने इन्द्रियतर्पण में ही प्रमत्त हो जाते हैं । जहाँ पर श्रेयः ही प्रेयः होता है, वहाँ पर भगवान की सेवा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कर्त्तव्य के रूप में परिगणित नहीं होता ।

जो श्रेयः के विचार को ग्रहण करते हैं, वे कर्मफल के भोग को भगवान की कृपा जानकर उसका भोग करते – करते तन – मन – वचन से भगवान के चरणकमलों में शरणागत रहते हैं । वे कर्मफल के भोग से मुक्त होने की प्रार्थना न कर अहैतुकी सेवा की ही प्रार्थना करते हैं । ऐसे श्रेयः के आश्रयकारी व्यक्ति ही भगवान के चरणकमलों को प्राप्त करने के अधिकारी हैं ।

प्रेय: के मार्ग में मृत्यु (संसार) को जय नहीं किया जा सकता । श्रेय: का विचार ग्रहण करने पर ही मृत्यु को जय किया जा सकता है ।

जो निरन्तर भगवान की सेवा करते हैं एवं दूसरों को भगवान की सेवा में लगाते हैं, वे ही वास्तविक साधु हैं । परन्तु जो ऐसा न कर, अन्य उपदेश प्रदान करते हैं, उनका संग ही दु:संग है । जो प्रेय: की बात कहकर हमारे मन का हरण करते हैं, उनके संग को दु:संग जानकर दृढ़भाव से त्याग करना कर्त्तव्य है, अन्यथा विपत्ति में पड़ना पड़ेगा । उस समय हमें सर्वनाशकर संसार ही अच्छा लगेगा तथा हम प्रेय:पन्थी हो जायेंगे ।

प्र० – भक्त कौन हैं और अभक्त कौन हैं?

उ० – जो भगवान श्रीहरि की सेवा करते हैं, भगवत्सेवा के अतिरिक्त जिनका और कोई कार्य नहीं है, भगवान का कार्य ही जिनका अपना कार्य है, वे ही भक्त हैं । वे भगवान को छोड़कर और किसी को भी नहीं जानते हैं । चेतनधर्मविशिष्ट भक्तियुक्त सज्जनगण ही भगवान श्रीहरि की उपासना करते हैं । जहाँ चेतन का धर्म या क्रिया (भगवत्सेवा) लक्षित नहीं होती है – वही अचेतनधर्म है । भक्तिहीन व्यक्ति ही अचेतन, जड़प्राय, अन्याभिलाषी, कर्मी या ज्ञानीब्रुव हैं । कर्मी, ज्ञानी, योगी, तपस्वी आदि अभक्त – भक्तिहीन हैं । वे सभी अपने – अपने स्वार्थ को लेकर ही व्यस्त हैं ।

शास्त्र कहते हैं – जो भगवत्सेवा नहीं करते हैं, वे जीवित रहते हुए भी मृत हैं । भगवत्सेवा नहीं करने पर भोग का विचार आकर हमें विपत्ति में डाल देगा – हमें माया का नौकर बना देगा । 24 घण्टों में से 24 घण्टे ही भगवत्सेवा का विचार नहीं रहने पर माया आकर ग्रास करेगी – मानव अचेतन हो जायेगा । सभी वस्तुओं में भगवत्सेवा का सम्बन्ध नहीं देखने के कारण उन समस्त वस्तुओं के भोक्ता या कर्त्ता के अभिमान में जीव विपथगामी हो रहा है । भगवान के भक्त

अन्याभिलाषी, भोगपरायण कर्मी या भोगरहित अभक्तज्ञानी नहीं हैं, वे जड़ की सेवा (माया की सेवा) नहीं करते हैं । अभक्त ही जड़ की सेवा करके प्रभु बनने की अभिलाषा करते हैं ।

भक्ति ही भक्तों की सम्पत्ति है । भक्ति ही भक्तों का जीवन है । भगवत्सुख की वाञ्छा ही उनके हृदय की वृत्ति है । अभक्तों की चित्तवृत्ति ठीक इसके विपरीत है । वे अपनी सुख-वाञ्छा को लेकर ही व्यस्त हैं ।

प्र० – जगत को किस रूप में देखें?

उ० - शास्त्र कहते हैं-

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।"

(श्वे० उ० 1)

हे भोगिकुल! तुम विश्व को अपना भोग्यज्ञान क्यों करते हो? भोग के बीच में रहने से हरिभजन नहीं होता है । समस्त विश्व ही भगवान की सेवा का उपकरण है, सबकुछ अद्वितीय भोक्ता भगवान के भोग की वस्तु हैं-इसे तुम भूल क्यों रहे हो? सेवक होकर तुममें भोग करने की प्रवृत्ति क्यों आ रही है? सेवा ही सेवक की वृत्ति है । अतएव सेवा में ही सेवक को शान्ति प्राप्त होती है । किन्तु भोग तो सेवा नहीं है कि जिससे शान्ति प्राप्त हो?

प्र० – अपने परम कल्याण के लिए कौन सा पथ ग्रहण करना होगा?

उ० - तर्कपथ का परित्याग कर श्रौतपथ ग्रहण करना होगा । सर्वप्रथम श्रवण करना होगा । पहले ही आँख के द्वारा देखने की आवश्यकता नहीं है, नहीं तो वञ्चित होना होगा । आँख के द्वारा महाजनों का आचरण देखने जायेंगे, तो उनके आचरण का अनुकरण करने वाला होकर असुविधा में पड़ जायेंगे । प्रत्यक्षवाद, भोगवाद,

आरोहवाद जीव को नास्तिकता की ओर ले जाता है, इसलिए अवरोहवाद ग्रहणीय है ।

प्र० – भगवान किसका उद्धार करते हैं?

उ० – अज्ञानवशत: भोगी और त्यागी लोग भक्ति की कथा नहीं समझते हैं । जो अति वैरागी या शुष्कज्ञानी या त्यागी हैं, वे भगवद्भजन को समझ नहीं सकते । जो विषयों में अत्यधिक आसक्त हैं, वे भी भक्ति की कथा समझ नहीं सकते । जिनको दिव्य – ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, वे ही स्वयं प्रभु बनने के लिए व्यस्त होते हैं । मैंने भगवान के श्रीचरणकमलों का आश्रय ग्रहण किया है, मैं भगवान का सेवक हूँ, भगवत्सेवा ही मेरा कार्य है – ऐसा ज्ञान ही दिव्यज्ञान है । यह गुरुकृपा द्वारा प्राप्त होता है । जो भगवान को नहीं त्यागते हैं, भगवान भी उन्हें नहीं त्यागेंगे । सेवा में रत व्यक्ति निश्चय ही भगवान को प्राप्त करेगा । किन्तु अपने को सोलह आना (सौ प्रतिशत) देना होगा, नहीं तो ठगे जायेंगे । जो अपने को सौ प्रतिशत में सौ प्रतिशत देंगे, भगवान उनका अवश्य ही उद्धार करेंगे ।

प्र० – जीव और ईश्वर में क्या भेद है?

उ० – ईश्वर और जीव में उपास्य और उपासक का भेद है । जीव का धर्म सेवा करना है और भगवान का धर्म सेवाग्रहण करना है । एक वस्तु पूर्ण और बृहत् है तथा एक वस्तु सर्वापेक्षा क्षुद्र है । परमेश्वर विभु – चित् हैं और जीव अणु – चित् है । ईश्वर मायाधीश हैं और जीव मायावश है । 'मायाधीशता और मायावशता ही ईश्वर और जीव में भेद है ।'

प्र० – भगवान की दया किसके प्रति होती है?

उ० – निष्कपट शरणागत व्यक्तियों के प्रति ही भगवान की दया होती है । 'मैं' और 'मेरे' का भाव रहने पर कभी भी भगवत्कृपा प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है ।

प्र० – श्रीचैतन्यदेव का मत संक्षेप में कहिये?

उ० – श्रीचैतन्यदेव के मत के विषय में हम एक प्राचीन श्लोक में देखते हैं –

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो न परः ।।

भगवान ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण एवं श्रीधाम वृन्दावन ही आराध्य वस्तु हैं । ब्रजवधुओं ने जिस प्रकार श्रीकृष्ण की आराधना की, वही आराधना सर्वश्रेष्ठ है । श्रीमद्भागवत ही अमलप्रमाण है एवं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, यही श्रीचैतन्य महाप्रभु का मत है । उसी सिद्धान्त का ही हम आदर करते हैं, अन्य मत का नहीं ।

नन्दनन्दन श्रीकृष्ण में ही भगवत्ता का परिपूर्ण विकास है । श्रीकृष्ण तीन प्रकार की प्रतीतियों में ही अधिकारी भक्तों के समक्ष प्रकाशित होते हैं । ये तीनों प्रतीतियाँ ही पूर्ण प्रतीतियाँ हैं । वे कृष्ण की परमात्म प्रतीति तथा ब्रह्म प्रतीति के समान आंशिक तथा असम्यक् नहीं हैं । ये तीनों प्रतीतियाँ पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम के रूप में प्रकाशित होती हैं । भगवान की ये तीनों पूर्ण प्रतीतियाँ द्वारिका, मथुरा तथा वृन्दावन में प्रकाशित हैं । द्वारका में पूर्ण प्रकाश, मथुरा में पूर्णतर तथा ब्रज में पूर्णतम प्रकाश है ।

हमलोग चतुर्दश लोकयुक्त ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत भूलोक में वास करते हैं । इसमें सात ऊपर के लोक तथा सात नीचे के लोक हैं । ऊपर के सात लोकों में भूलोक ही प्रथम लोक है । भूः, भुवः तथा स्वः – ये तीनों ऊपर के लोक सकाम पुण्यकारी गृहमेधियों के भोगस्थान हैं तथा उनके ऊपर स्थित महः, जन, तप, सत्य – ये चार लोक अगृहस्थ या त्यागियों के प्राप्य स्थान हैं । इनमें से जो उपकुर्वाण ब्रह्मचारी अर्थात् जो

निर्दिष्ट समय तक गुरुगृह में वास कर गुरुदक्षिणा प्रदान कर वापस लौट जाते हैं, उनका प्राप्यस्थान महर्लोक है । नैष्ठिक ब्रह्मचारी अर्थात् जो आजीवन गुरुगृह में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उनका प्राप्य स्थान–जनलोक है । वानप्रस्थियों का प्राप्यस्थान तपलोक है । यतिलोगों का प्राप्यस्थान सत्यलोक है । किन्तु जो भगवद्भक्त अर्थात् जिनकी इस जगत में भोग करने की या ब्रह्म में लीन होने की सर्वनाशक आशा नहीं है, वे दुर्लभ वैकुण्ठ लोक प्राप्त करते हैं । उस वैकुण्ठ के ऊपर द्वारका, उसके ऊपर मथुरा तथा उसके ऊपर गोलोक वृन्दावन है । परव्योम में जो समस्त धाम हैं, वे सब धाम ही इस प्रपंच में प्रकाशित होते हैं । अप्रपंच में जो नहीं है, वह इस प्रपंच में भी नहीं हो सकता । जल के सम्पर्क से रहित होकर ही सरोवर में जिस प्रकार कमल रहता है, उसी प्रकार वृन्दावन धाम भी पृथ्वी में रहता है । जिनका चित्त सेवोन्मुख नहीं है, वे प्रपंच में अवतीर्ण धाम के अप्राकृत तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकते । अयोध्या, द्वारका, पुरुषोत्तमक्षेत्र आदि वैकुण्ठ के ही प्रदेश विशेष हैं । वैकुण्ठ सुख से अयोध्या का सुख महत् है, अयोध्या के सुख से मथुरा का सुख महत्तर है तथा गोलोक वृन्दावन का सुख तो सभी सुखों का शिरोमणि है । रस के तारतम्य से ही सुख का तारतम्य है । गोलोक में जो दुःख वर्त्तमान हैं, वे दुःख भी समस्त सुखों के मस्तक पर नृत्य करते हैं । वहाँ के दुःख भी परमानन्द की ही पुष्टि करते हैं । श्रीचैतन्यदेव ने उन्हीं वृन्दावनेश तथा गोकुलेश की सेवा की श्रेष्ठता का ही प्रतिपादन किया है । समस्त विष्णु के अवतारों के मूल अवतारी–स्वयं भगवान श्रीकृष्ण हैं । ये कृष्ण नन्दनन्दन यशोदादुलाल राधानाथ हैं । वे स्वयंरूप परमेश्वर या स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ही गौड़ीयों के या श्रीरूपानुग हमारे नित्य उपास्य हैं ।

प्र० – कृष्ण की उपासना के विषय में कुछ कहिये?

उ० – ब्रजगोपियों के द्वारा आचरित उपासना ही कृष्ण की सर्वश्रेष्ठ उपासना है । कृष्ण पूर्ण शक्तिमान् तथा निरंकुश इच्छामय हैं । पूर्ण शक्तिमान् की एक पूर्ण शक्ति भी है । वह एक ही शक्ति तीन प्रकार के कार्य करती है – (1) आनन्द या रसास्वादन (2) कर्तृत्व परिचालना या भोक्तृत्व सम्पादन (3) सत्ता प्रकाशन या अस्तित्व विधान । प्रथमोक्त शक्ति का नाम ह्लादिनी, द्वितीय प्रभाव का नाम सम्वित् है, तृतीय प्रकाश का नाम सन्धिनी है । कृष्ण की समस्त भोग्य वस्तुएँ सन्धिनी से ही प्रकट होती हैं । वह सन्धिनी शक्ति कृष्ण का धाम, कृष्ण की लीलाओं के उपकरण आदि चिद् – वैभव प्रकाशकर कृष्ण की सेवा करती है । सम्वित् शक्ति भगवान का अनुभव कर्तृत्व, आनन्द का भोक्तृत्व उपलब्धि एवं भगवद् ज्ञान का अनुभव कराकर कृष्ण की सेवा कर रही है । ह्लादिनी शक्ति रस के विवर्धन एवं नवनवायमान चमत्कारिता के लिए अपने को बहुत से रूपों में प्रकाशित करती है । ये ही ब्रजगोपियाँ हैं । ब्रजवधुएँ मूर्त्तिमती कृष्णप्रीति की पराकाष्ठा तथा श्रीकृष्णाकर्षिणी श्रीराधा की ही कायव्यूहा हैं । श्रीराधा – कृष्ण की समस्त ऐश्वरी शक्ति की मूल आश्रयस्वरूपा हैं । यह चिल्लीलामिथुन (Divine Couple) एक होकर भी आस्वादक तथा आस्वादित के रूप में दो रूपों में प्रकाशित होता है । Mahaprabhu comes to establish service through subordination Radhika.

प्र० – अधोक्षज वस्तु क्या है?

उ० – जिसे इन्द्रियों के द्वारा नापा नहीं जा सकता, वही अधोक्षज है । अधोक्षज का अर्थ है – इन्द्रियज्ञानातीत या अतीन्द्रिय । वह अप्राकृत वस्तु जब सेवोन्मुख इन्द्रियों में स्वयं ही अवतीर्ण होती है, तभी वह उपलब्धि का विषय होता है । नहीं तो कृष्ण तत्त्व को जागतिक सर्वश्रेष्ठ पाण्डित्य, सर्वश्रेष्ठ साधना, सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमता या विचार शक्ति

के द्वारा आंशिक रूप में भी नहीं जाना जा सकता । बहुत से लोग उन्हें प्राकृत साहित्य या दर्शन के समान मानकर भोगबुद्धि से उनकी आलोचना करने की चेष्टा करते हैं । परन्तु उनके समक्ष अधोक्षज वस्तु कभी भी प्रकाशित नहीं होती । वैकुण्ठ-वस्तु तुरीय (चतुर्थ) है, अतः उसको धारण करने में असमर्थ होने के कारण हम उन्हें निर्विशेष कहकर प्रतिपादन करना चाहते हैं । किन्तु अधोक्षज तुरीय वस्तु कभी भी निर्विशेष नहीं है ।

अधोक्षज तत्त्व परमस्वतंत्र है । वह जीव की विचारबुद्धि से उत्पन्न कोई वस्तु नहीं है । कल्पित वस्तु ही पुत्तलिका है । जीव अपनी उद्भावनी शक्ति के द्वारा जिस वस्तु की सविशेष, निर्विशेष के रूप में धारणा या कल्पना करते हैं, जिसे साकार या निराकार बोलते हैं, वही सब पुत्तलिका हैं । अधोक्षज कृष्ण या परब्रह्म वैसा निर्विशेष, सविशेष, साकार, निराकार पुत्तलिका नहीं है । हम अधोक्षज के निकट challenging attitude लेकर कभी भी उपस्थित नहीं हो सकते, इसका नाम तर्कपन्था है । हमें विनीत भाव से उनके पास जाना चाहिए ।

प्र० – श्रीचैतन्यदेव के अनुगत सज्जन लोग किस प्रणाली को मानते हैं?

उ० – जगत में असंख्य प्रकार की दार्शनिक विचारप्रणालियाँ होने पर भी उन्हें विशेष दो भागों मे बाँटा गया है – एक श्रौत प्रणाली तथा दूसरी अभिज्ञता की प्रणाली । अनेक लोग श्रौत प्रणाली की बात कहकर भी वास्तव में अभिज्ञता की प्रणाली का ही समर्थन करते हैं । महाप्रभु ने उन्हें श्रौतब्रुव या अश्रौतपन्थी कहा है । श्रीचैतन्यदेव के साथ जब वैदान्तिक सार्वभौम भट्टाचार्य का विचार हुआ था, उस समय उन्होनें मायावादियों को श्रौतब्रुव या प्रच्छन्न नास्तिक के रूप में प्रमाणित किया था –

वेद ना मानिया बौद्ध हय त नास्तिक ।
वेदाश्रये नास्तिक्यवाद बौद्धके अधिक ।।
(चै. च.)

अर्थात् वेदों को न मानने के कारण बौद्ध नास्तिक हैं । परन्तु वेदों के आश्रय में नास्तिक्यवाद बौद्धों से भी अधिक निकृष्ट है ।

वास्तव ज्ञान कभी भी अभिज्ञता की प्रणाली से प्राप्त नहीं किया जा सकता । जिस प्रकार हिमालय में गोमुख से गंगा निकलती है, उसी प्रकार आचार्य के मुख से वैकुण्ठ विषयक वास्तवज्ञान की धारा प्रवाहित होती है । आचार्य भगवान के संवादवाहक हैं । वे अतीन्द्रिय देश (वैकुण्ठ) का संवाद हम तक पहुँचाते हैं । गुरुमुख से विगलित वैकुण्ठ का संवाद केवलमात्र सेवोन्मुख इन्द्रियों के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है ।

जिसने कलकत्ता देखा है, उसी से कलकत्ता के विषय में सुनना चाहिए । उसे प्रतिद्वन्द्वी न जानकर अर्थात् उससे कुतर्क न कर विनीत भाव से उसकी बात को मन से सुनना चाहिए । **परन्तु निष्कपट रूप से जिज्ञासु होकर प्रश्न करने की सत्प्रवृत्ति को कुतर्क या प्रतिद्वन्द्विता की खराब प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह भी श्रवण करने की ही एक पिपासा है ।** इसीलिये शास्त्रों में कहा है कि कम से कम गुरु को एक वर्ष का समय देना चाहिए । क्योंकि शिष्य गुरु के पास प्रतिद्वन्द्विता की प्रवृत्ति को लेकर गया है अथवा वास्तव में ही जिज्ञासु होकर गया है, इसका परिचय एक वर्ष में ही मिला जायेगा । गुरु के पास जाना होगा, उनसे सुनना होगा, उनसे प्रतिद्वन्द्विता नहीं करनी चाहिए । हम इस विषय में बहुत सतर्क रहेंगे । इसी प्रणाली का नाम ही आरोहवाद है और अभिज्ञता की जो प्रणाली है, उसे अवरोहवाद कहा जाता है ।

प्र० – क्या स्मार्तलोग विष्णुपूजा नहीं करते?

उ० – स्मार्तों की विष्णुपूजा केवल गणेश – सूर्य आदि देवताओं की पूजा का ही नामान्तर है । उसमें विष्णु के परमपद की पूजा नहीं होती । विष्णु को पंचदेवताओं में अन्यतम मानकर जो पूजा होती है, उसमें विष्णु के असमोर्ध्वपद को अन्यान्य देवताओं के समान मानना हो जाता है, उसमें विष्णु की सामान्य देवताओं में गणना की जाती है । किन्तु यह पाषण्डता या अपराध है । शास्त्र कह रहे हैं –

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म – रुद्रादि – दैवतैः ।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम् ।।

पाषण्डी हिन्दु लोग कृष्णनाम को ही एकामात्र साध्य तथा साधन के रूप में विचार नहीं करते । वे कृष्ण को अन्य देवता के समान तथा कृष्णनाम को योग – यज्ञ – तपस्या – ध्यान – व्रत आदि के समान ही मानते हैं । किन्तु महाप्रभु ने कहा है –

कोटि अश्वमेध एक कृष्णनामसम ।
जेइ कहे, से पाषण्डी दण्डे तारे यम ।।

अर्थात् जो कहता है कि एक कृष्णनाम कोटि अश्वमेध यज्ञ के समान है, वह पाषण्डी है, उसे यमराज दण्ड देते हैं ।

पञ्चोपासना में जो विष्णुपूजा है, उससे विष्णु संतुष्ट नहीं होते । वह देव पूजा मात्र है, अतः अवैध है ।

प्र० – देवताओं की पूजा अवैध होने पर भी उससे तो कृष्ण की ही पूजा होती है?

उ० – विधिपूर्वक पूजा होने पर ही वह फलदायक होती है । उससे मंगल होता है । अविधिपूर्वक पूजा से सुविधा नहीं हो सकती । कृष्ण ही एकमात्र समग्र विश्व तथा विश्व के अतीत द्विदल वैकुण्ठ के एकच्छत्र सम्राट् हैं । अतः उनके भोग में कोई बाधा नहीं दे सकता । उनकी पूजा सभी कर रहे हैं, किन्तु अविधिपूर्वक पूजा करने से पुजारी

की कोई सुविधा नहीं होती । जो सूर्य, गणेश, शक्ति आदि की पूजा कर रहे हैं, वे भी कृष्ण की ही छायाशक्ति की पूजा कर रहे हैं । क्योंकि कृष्ण से किसी की स्वतंत्र सत्ता नहीं है । किन्तु छाया की पूजा होने पर उनके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता–सम्बन्धज्ञान विकसित नहीं होता । जिस दिन हमारा सम्बन्ध ज्ञान होगा, उसी दिन हम समझ पायेंगे कि कृष्ण ही एकमात्र प्रभु हैं तथा जीवमात्र ही कृष्ण का नित्यदास है, कृष्णसेवा ही जीव का नित्यधर्म है ।

सर्वेश्वर कृष्ण का भजन ही जीव का नित्य कर्त्तव्य है । अन्यान्य देवतागण सभी विष्णु के किंकर हैं । गोविन्द का आदेश पालन ही उनका कार्य है । जो देवताओं को विष्णु के किंकर न जानकर उन्हें विष्णु का नामान्तर या रूपान्तर मानते हैं, वे कभी भी मुक्त नहीं हो सकते ।

प्र० – क्या भक्त अपनी बात कहते हैं?

उ० – मुझे अनेक लोग कहते हैं कि आपकी कथा सुनकर मैं बहुत उपकृत हुआ हूँ । किन्तु इसमें हमारी कोई विद्या–बुद्धि नहीं है । गुरुदास होने के कारण हम केवल गुरुपादपद्म की ही कथाओं को कहते हैं । हम किसी प्रकार की कोई नई बात नहीं कहते । हाँ! भगवान को पाने के लिए उसके अनुकूल जो सब कथाएँ कहने योग्य हैं, हम केवल वही कहते हैं ।

मैंने आपके समक्ष जो सब कथाएँ कही हैं, उसमें मेरा कुछ भी नहीं है । हमारी व्यक्तिगत किसी प्रकार की योग्यता नहीं है । यह सब गुरुदेव की ही कथा है । गुरुपरम्परा में मेरे गुरुदेव तक जो सनातन सत्य कथाएँ चली आ रही हैं, मैं उन्हीं कथाओं का ही कीर्त्तन करता हूँ ।

भक्त कहते हैं कि श्रीगुरुपादपद्म कृपापूर्वक हृदय में जो स्फूर्ति कराते हैं, वही जिह्वा में प्रकाशित होता है । मेरी अपनी कुछ भी बोलने की योग्यता नहीं है ।

प्र० – हिन्दुधर्म में पौत्तलिकता क्यों है?

उ० – इस जगत में भगवान के representative या प्रतिनिधि केवल दो हैं । एक – अप्राकृत शब्द या श्रीनाम तथा दूसरा – भगवान का नित्यचिद्विलास सविशेष रूप का अर्चावतार । हम जिस वस्तु से बहुत दूर अथवा जिस वस्तु के निकट तक अभी नहीं पहुँच सकते, उस वस्तु को चक्षु इन्द्रिय के द्वारा दर्शन, नासिका के द्वारा घ्राण, जिह्वा के द्वारा आस्वादन, त्वचा के द्वारा स्पर्श नहीं कर सकते । जिस प्रकार London town को हम यहीं पर बैठकर नहीं देख सकते, घ्राण नहीं कर सकते, आस्वादन नहीं कर सकते या स्पर्श नहीं कर सकते । इन चारों इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय का कार्य दूरस्थित वस्तु के ऊपर प्रयुक्त नहीं हो सकता । केवल कर्णेन्द्रिय के द्वारा दूर स्थित वस्तु का ज्ञान पाया जा सकता है । London का विषय हम यहीं पर बैठकर श्रवणेन्द्रिय के द्वारा जान सकते हैं । टेलीग्राम में शब्द लन्दन से हमारे कान में लन्दन का विषय हमें बता सकता है । टेलीफोन के द्वारा हम दूर स्थान के विषय में जान सकते हैं । पुस्तक में हम जो लन्दन की बातें पढ़ते हैं, वह Visualized (चाक्षुष) Sound मात्र है । Scriptures are but the visualized revealed transcendental sounds.(शास्त्र समूह अप्राकृत शब्द के अवतार हैं ।) हजारों वर्ष पूर्व या युगयुगान्तर पूर्व साधु – सन्तों ने जिन शब्दों का उच्चारण किया था, उन्हें हम लेखनी के माध्यम से सुन सकते हैं । अतः ग्रन्थ या लेखनीसमूह शब्द के अर्चावतार हैं । किन्तु जागतिक शब्द, जैसे – लन्दन शब्द लन्दन से पृथक् है । मायिक जगत के शब्दों में मायिक व्यवधान है । यहाँ पर शब्द तथा शब्दी में – जल शब्द तथा जल वस्तु में भेद है । किन्तु वैकुण्ठ जगत में शब्द तथा शब्दी में किसी प्रकार का भेद नहीं है । वहाँ पर शब्द ही वस्तु तथा नाम ही नामी है । ईश्वर के नाम मायिक जगत में उत्पन्न शब्द नहीं हैं । वे वैकुण्ठ से अवतीर्ण हुए हैं । इन अवतीर्ण अप्राकृत शब्दों में किसी

प्रकार का व्यवधान नहीं है । वे शब्द ही साक्षात् चिद्विलासमय परब्रह्म हैं । इन अप्राकृत शब्दों को जो सब समय उच्चारण करते हैं, उनका सब समय परब्रह्म के साथ ही Communion (संग) होता है । जो वस्तु से दूर हैं, वे जिस प्रकार शब्दों की सहायता से दूर स्थित वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तथा वस्तु के सम्मुख रहने पर भी शब्दों की सहायता से ही वस्तु की स्तुति, प्रशंसा तथा महत्त्व प्रकाश एवं उसके द्वारा सम्पूर्ण रूप से समस्त इन्द्रियों के द्वारा वस्तु की उपलब्धि कर सकते हैं, उसी प्रकार साधन तथा साध्य दोनों ही अवस्थाओं में अप्राकृत शब्द की आवश्यकता स्वीकृत है । शब्दब्रह्म का उच्चारण या नामसंकीर्त्तन को ही सर्वाचार्य-शिरोमणि जगद्गुरु श्रीचैतन्यदेव ने साधन-साध्य के रूप में कीर्त्तन किया है ।

मैंने (प्रभुपाद) Reverend Butler साहब से कहा कि जिसमें भगवान का कोई interest (प्रयोजन या स्वार्थ) नहीं है, किसी का व्यक्तिगत तात्कालिक अपूर्ण स्वार्थ या कामना है, उसे ही in vain कहते हैं अर्थात् वह क्रिया ही वृथा नाम ग्रहण कहती है । जिस प्रकार आपके खाने के लिए ही यदि आपका नौकर आपको आवाज़ देता है, आपके सुख के लिए आपके स्त्री-पुत्र आदि यदि आपको बुलाते हैं, तो क्या यह in vain है! ऐसे न बुलाना ही in vain है । भगवान के भक्तगण भगवान को नामसंकीर्त्तन के द्वारा बुलाते हैं-केवल भगवान के सुख के लिए-भगवान की सेवा के लिए, अपनी किसी कामाना की पूर्त्ति के लिए नहीं । जिनकी thought idolise (चिन्ता व्युत्परस्तवत् जड़ में आसक्त) हो गयी है, वही श्रीमूर्त्ति को idol (पुत्तलिका या पुतला) देखता है । उससे हमें किसी प्रकार की असुविधा नहीं है । श्रीविग्रह वैकुण्ठ में स्थित चिद्विलास भगवान के नित्यस्वरूप का ही जगत में करुणामय अवतार हैं । वह भगवान का साक्षात् निदर्शन है । श्रीविग्रह साक्षात् भगवान हैं-साक्षात् इष्टदेव हैं । 'प्रतिमा नहे तुमि साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन अर्थात् आप प्रतिमा नहीं, साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन हैं।'

वैष्णव लोग जड़ का आकार या निराकार के अन्तर्गत ईश्वर रूप की कल्पना नहीं करते । वे पौत्तलिक नहीं हैं । परन्तु जो प्राकृत बुद्धि के द्वारा ही विचार करते हैं, उनके चित्त में प्रतिफलित समस्त प्रकार की जड़ावस्थित मूर्त्ति ही पुत्तलिका है । जो निर्विशेषवादी हैं या वस्तुज्ञानके अभाव के कारण जो जड़ को ईश्वर मानकर पूजा करते हैं, वे काल्पनिक निराकाराश्रित पौत्तलिक हैं । हम चेतनमयी श्रीमूर्त्ति को–सच्चिदानन्द श्रीविग्रह को जड़पिण्ड न मानकर साक्षात् भगवान मानकर मन्त्रों के द्वारा–चेतन के द्वारा हृदय से उनकी उपासना करते हैं । चेतन की वृत्ति के द्वारा भगवान के साथ communication होता है । जिनके विचार या बुद्धि अचेतन के द्वारा जड़ित हो गयी है, जो जड़ दर्शन के अतिरिक्त चेतन के किसी प्रकार के व्यवहार को नहीं जानते, वे ही अर्चावतार श्रीविग्रह को idol (पुतला) मानते हैं । श्रीनाम के द्वारा श्रीमूर्त्ति की सेवा होती है –चेतन के द्वारा चेतन की सेवा होती है ।

प्र०–सेवा का फल क्या है?

उ०–निष्कपट रूप से भगवान का आश्रय ग्रहण करना एक बात है तथा भगवान की सेवा के नाम पर अपनी इच्छानुसार चलना एक बात है । जो स्वतंत्र है, वह अनुगत नहीं है तथा जो अनुगत है, वह स्वतंत्र नहीं है । अनुगत–श्रेय:पन्थी तथा स्वतंत्र–प्रेय:पन्थी हैं । सेवा का अभिनय तथा सेवा एक वस्तु नहीं है । फल के द्वारा ही उसका पता चलता है । सेवा के फल से उत्तरोत्तर सेवा में उन्नति या सेवा की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न होती है, इसके विपरीत अर्थात् सेवा का अभिनय करने से भोगों की ओर प्रगति होती है ।

प्र०–सेवक का कैसा विचार होगा?

उ०–श्रीगुरु की महिमा श्रवण करना ही हमारे लिए एकमात्र कर्त्तव्य है । मेरे गुरुदेव मुझे जैसे रहने का निर्देश दें, उसे अपने सिर पर धारण करना होगा । इसके लिए यदि असुविधा भी हो, तो उसका फल लेने के लिए मैं तैयार हूँ, यही असली शिष्य का विचार होता है ।

जो कीर्त्तन करते हैं, वे ही गुरुपादपद्म हैं । मन देकर उनके द्वारा कीर्त्तित विषय का श्रवण तथा उसका जीवन में पालन ही शिष्य का विचार होता है ।

प्र० – किस उपाय से शुद्ध भजन होता है?

उ० – साधुसंग में रहकर हरि – गुरु – वैष्णवों की सेवा करते – करते ही आत्मकल्याण होता है । मन के अनुसार भजन के अभिनय को भजन नहीं कहते । श्रीगुरुपादपद्म के निर्देशानुसार गुरु एवं कृष्ण के सुख के लिए भजन करने पर ही शुद्ध भजन होता है ।

प्र० – जीव का नित्यधर्म क्या है?

उ० – धर्म, अर्थ तथा काम – ये तीनों ही भोगधर्म हैं तथा मोक्ष की वासना – त्यागधर्म है । इस भुक्ति – मुक्ति पिशाची के कवल से मानव – जाति का उद्धार करने के लिए भागवत धर्म का प्रकाश हुआ है । समग्र मानवजाति ने भोगधर्म तथा त्यागधर्म को ही धर्म मान रखा है । भागवत धर्म समग्र मानवजाति की धारणा में विप्लव लाकर कह रहे हैं – भोगकामना तथा मोक्षकामना के हाथ से मुक्ति प्राप्तकर अधोक्षज भगवान की सेवा ही जीव का नित्यधर्म है । Integer परमेश्वर से integral part जीव यदि स्वतंत्र होकर अपनी सुविधा या स्वार्थ पोषण करना चाहता है, तभी उसका अमंगल होगा । भगवान के सुख के लिए यत्न करने पर ही सुखी हुआ जाता है तथा अपने सुख के लिए यत्न करने पर दु:ख ही आते हैं ।

धर्म को प्रधान दो भागों में विभक्त किया जाता है । एक प्रकार का धर्म है – माप लेने का धर्म या जिसे कहते हैं – 'अनया मीयते इति माया' या आध्यक्षिकता तथा दूसरे प्रकार का धर्म है – आराधना का धर्म, 'अनया राधित:' या अधोक्षज धर्म । जो धर्म मापा जाने योग्य है, उसके द्वारा कभी भी ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त नहीं होगा । अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान, योग, व्रत आदि सभी मापने योग्य धर्म या अभक्ति हैं ।

अन्यान्य सभी धर्मों में भोग तथा त्याग की philosophy है । किन्तु अधोक्षज की सेवा की philosophy एकमात्र भागवत धर्म में ही है । इसीलिए भागवद्दर्शन अद्वितीय है ।

तराजू के एक पलड़े में जगत के समस्त अन्याभिलाष, कर्म-ज्ञानचेष्टायुक्त साधनों को रख दिया जाये तथा दूसरे पलड़े में 'विद्या भागवतावधि' रख दिया जाये, तो किस ओर का मूल्य अधिक होगा, इसकी एक comparative study करने के लिए भागवत आह्वान कर रही है । शुद्ध विष्णु उपसना एक ओर तथा सूर्य, गणेश, शक्ति, शिव-ये चार प्रकार की उपासना एवं विष्णु को कर्मफलबाध्यदेवता मानकर विष्णु उपासना का छल दूसरी ओर है । किस ओर निष्कपट वास्तव सत्य है, मानव जाति इसका विचार करे । पञ्चोपासना में भगवान को विश्व के अन्तर्गत माना जाता है । उपासक-द्रष्टा तथा उपास्य-दृष्य-उनका ऐसा विचार होता है । किन्तु भागवत दर्शन में उपासक-दृष्य तथा भोग्य होता है तथा उपास्य-द्रष्टा या भोक्ता होते हैं ।

हमारे पास कुछ भी वस्तु क्यों न आए, हम उसका कृष्ण के साथ सम्बन्ध देखेंगे, क्योंकि प्रत्येक वस्तु ही integral part है । Integer के साथ उसका uniting tie अनुसन्धान करने पर ही वस्तु के प्रकृतस्वरूप का दर्शन होता है ।

प्र० – अन्यान्य इन्द्रियों से कर्ण का क्या वैशिष्ट्य है?

उ०-इस जगत में अतीन्द्रिय वस्तु के सम्बन्ध में अभिज्ञान एकमात्र कर्ण के द्वारा ही सम्भव है, चक्षु आदि के द्वारा नहीं । कर्ण का द्वार बन्दकर अन्यान्य इन्द्रियों की परिचालना करने पर केवल पूर्व में प्राप्त विचार ही प्रबल रहते हैं तथा आत्मम्भरी (आत्म चेष्टाकारियों) को स्वार्थपर होकर जिस अन्धकार में वे थे, उसी में रहना पड़ता है, जिससे पहले से भी अधिकतर अनर्थों में डूबना पड़ता है । आध्यक्षिक लोगों की

धारणा भी नियमित तथा परिवर्तित हो सकती है, यदि वे श्रवणेन्द्रिय का अनुशीलन करें, यदि वे श्रीचैतन्यवाणी में कर्णनियोग करें । किन्तु अन्यान्य इन्द्रियों की परिचालना के द्वारा वे अपने मनोधर्म का त्याग नहीं कर सकते । परन्तु अप्राकृत शब्द का वक्ता भी अप्राकृत होना आवश्यक है । वक्ता चेतनमय वस्तु होना चाहिए । अप्राकृत शब्द का वक्ता निष्किञ्चन होता है, वे श्रोता के समस्त किञ्चन (तुच्छ) धर्म त्याग करवाकर उसे निष्किञ्चन बना सकते हैं ।

प्र० – जीव की प्रयोजनीय वस्तु क्या है?

उ० – हरिस्मृति ही हमारे लिए सबसे अधिक प्रयोजनीय विषय है । वह श्रवण एवं कीर्त्तन के ऊपर निर्भर करती है । श्रवण होने पर कीर्त्तन होता है तथा कीर्त्तन होने पर स्मरण होता है ।

हम असुविधा में पड़े हैं – कई बार यह विवेक हरिकथा में रुचि उत्पन्न करता है । हरिकथा श्रवण करते – करते कीर्त्तन तथा स्मरण होता है । जभी हम हरिकीर्त्तन करते हैं, तभी हमें भगवान का स्मरण होता है । भगवान में स्वाभाविक रुचि उत्पन्न होने का नाम ही आत्मसमर्पण है । जभी हम समझेंगे – **'आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परं । तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम् ।।'** अर्थात् हे देवि! समस्त आराधनाओं में विष्णु की आराधना ही श्रेष्ठ है । परन्तु जो विष्णु की आराधना करते हैं, ऐसे भगवद्भक्तों का संग तथा सेवा और भी श्रेष्ठ है । तभी हमारा जीवन समर्पित जीवन हो सकेगा । हम जगत में बहुत प्रकार के लोगों का दुःसंग कर रहे हैं, जिससे हमारी असुविधा ही बढ़ रही है । दुःसंग त्यागकर सत्संग करना ही कर्त्तव्य है । अधोक्षज कृष्ण की सेवा को त्यागकर जो जनसेवा करते हैं, उससे केवल अस्थायी फलमात्र ही पाया जायेगा । उससे वास्तव शान्ति नहीं मिलेगी – हमारा चित्त स्थिर या शान्त नहीं होगा । यदि भगवान की कृपा हो, केवल तभी हरिकीर्त्तनकारी साधुओं का निरन्तर संग प्राप्त होता है ।

रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि विषय सर्वदा ही हमें आकर्षण कर रहे हैं । उससे बचकर भगवान के संग में किस प्रकार से जाया जाये, यह श्रवण करना चाहिए ।

Public service (जनसेवा) तो हम बहुत जन्मों से करते आ रहे हैं । पशु भी अपने स्वजाति के प्रति नानाविध कार्य करते हैं, किन्तु मानुष होकर हम क्या उनसे कुछ श्रेष्ठ पद प्राप्त नहीं करेंगे? इस जगत में सब कुछ सामयिक तथा नश्वर वस्तु है । जो वस्तु चिरकाल तक रहती है, क्या हमने उसके सम्बन्ध में आलोचना की? इस मनुष्य जीवन की सार्थकता यही है कि इससे परजीवन या नित्यजीवन के विषय में आलोचना की जा सकती है । इसी जीवन में हरिकथा सुनी एवं बोली जा सकती है तथा यही भगवान की स्मृति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है । हरिकथाकीर्त्तन के अतिरिक्त हमारा इस जगत में और कोई कार्य नहीं है । जीवन में या मरण के बाद भी कृष्ण की कथाओं के अतिरिक्त हमारी और कोई गति या कृत्य नहीं है । सुमेधागण कृष्णकथा कीर्त्तनकारी एवं कुमेधागण अन्याभिलाष-ज्ञानकर्म का अनुष्ठान करने वाले होते हैं । श्रीवार्षभानवी देवी सर्वदा ही कृष्णनाम उच्चारण करती हैं । वे कृष्ण सेवा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करती हैं । इसलिये सुमेधाओं में सर्वश्रेष्ठ हुईं-श्रीवार्षभानवी, सुमेधाओं में मूल पुरुष हुए-श्रीगौरसुन्दर ।

प्र० – हमारा पूर्ण मंगल कैसे होगा?

उ०-पूर्ण वस्तु हैं-भगवान श्रीहरि । कृष्ण दयामय हैं, वे पूर्ण वस्तु हैं, उनकी दया भी पूर्णता प्रदानरूप दया है । पूर्ण वस्तु अपूर्ण को दी जाती है, जिससे अपूर्ण पूर्ण को पा सकते हैं । पूर्ण के निकट न जाने पर पूर्ण मंगल नहीं हो सकता । उससे केवल खण्डानन्द या परिमित आनन्द ही प्राप्त हो सकता है । पूर्ण वस्तु श्रीहरि दयामय होने के कारण उन्होंने हमें भगवत्कथा श्रवण-कीर्त्तन का सुयोग दिया है । कृष्ण कथाकीर्त्तन के बिना जीव का चित्त निर्मल नहीं हो सकता, उसे

नित्यमंगल का अनुसन्धान नहीं मिल सकता । कृष्ण आकर्षक वस्तु हैं । उन आकर्षक की कथा श्रवण-कीर्त्तन करने पर उनके अनुग्रह से हम अति सहज रूप में ही उनके प्रति आकृष्ट हो सकते हैं, तभी हमारा पूर्णमंगल होता है ।

प्र० – भगवद्विमुख जीव सर्वप्रथम क्या होकर इस जगत में आया?

उ० – भगवद्विमुख जीव सर्वप्रथम ब्रह्मा होता है, उसके बाद मनुष्य होता है । पतित जीव सर्वप्रथम विरिञ्चि (ब्रह्मा) हुए हैं । माया के भोक्ता या कर्ता होने जाकर अनेक जीव ब्रह्मा के पुत्र हुए । उनमें से किसी किसी को प्रजा सृष्टि का भार प्राप्त हुआ ।

जब भी जीव का भोक्ता अभिमान उदित होता है, तभी वह माया में आबद्ध हो पड़ता है । अचेतन राज्य (जड़ जगत) में प्रभु होने की चेष्टा करने पर माया का दासत्व ही प्राप्त होता है ।

प्र० – क्या पाप और अपराध एक ही चीज़ हैं?

उ० – नहीं । सामाजिक नीति को भंग करने से 'पाप' होता है तथा विष्णु-वैष्णवों के चरणों में अवज्ञा होने पर 'अपराध' होता है । पाप से अपराध करोड़ों गुणा अधिक भयंकर होता है । पाप तो प्रायश्चित से नष्ट हो जाता है, किन्तु अपराध प्रायश्चित से भी नहीं जाता । अपराध तो केवल पतितपावन श्रीगौरनित्यानन्द के भुवनमंगल नाम से ही दूर भागता है ।

प्र० – क्या भक्त सर्वत्र ही भगवान का दर्शन करता है?

उ० – निश्चय ही । जल में, स्थल में, अन्तरीक्ष में, प्रत्येक स्थान में, अणु-परमाणु में जिन भगवान का अधिष्ठान है, जो अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र ही विराजमान हैं, वे भक्तों के दिव्यदर्शन में नित्यकाल प्रतिभासित होते हैं । किन्तु कनक-कामिनी तथा प्रतिष्ठा में आसक्त अभक्त सम्प्रदाय के अदिव्य जड़ चक्षुओं के द्वारा उनका दर्शन नहीं

होता । वे लोग भक्तों के दर्शन में भी विश्वास नहीं करना चाहते । इसीलिए भक्तों के वाक्यों को सत्य करने वाले भगवान श्रीनृसिंहदेव ने स्फटिक खम्बे से प्रकट होकर इस सत्य को प्रमाणित कर दिया कि भक्त को सर्वत्र ही भगवान का दर्शन होता है । श्रीनृसिंहदेव भक्त विघ्नविनाशक हैं ।

प्र० – क्या भक्त का संसार तथा बद्धजीव का संसार समान होता है?

उ० – कभी नहीं । कनक – कामिनी तथा प्रतिष्ठा – इन तीन प्रकार की योषितों की (स्त्रियों की) भोग की आशा जिनके हृदय में है, वे 'योषित्संगी' हैं । विषयी तथा योषित्संगी एक ही बात है । विषयी उक्त तीनों प्रकार की योषित को अपने इन्द्रियतर्पण के विषय के रूप में ग्रहणकर भगवान की सेवा से विमुख होते हैं । भक्त कभी भी उन्हें अपनी सेवा में नियुक्त नहीं करते, उनके द्वारा वे भगवान की सेवा करते हैं । चित्त – वृत्ति को अपने सुख में अथवा भगवान की सेवा से विमुख व्यक्ति को सुखी करने की चेष्टा में नियुक्त न कर भगवान तथा भक्तों के सुख के लिए नियुक्त करने पर ही चिद् – वृत्ति प्रकाशित होती है, तभी सेवा होती है, तभी भक्त हुआ जाता है, अन्यथा अभक्त होना पड़ेगा । संसार के प्रति आसक्ति सम्पूर्ण रूप से वर्जनीय है । आचार्यों का विवाह करना तथा बद्धजीव का संसार – भोग एक समान नहीं है । निष्किञ्चन भगवद्भक्त जिस किसी भी वर्ण में या किसी भी आश्रम में रहें, वे उस वर्ण या आश्रम के अन्तर्भुक्त नहीं हो जाते । 24 घण्टे में 24 घण्टे वे हरिसेवा में नियुक्त रहते हैं ।

प्र० – क्या हरिकीर्त्तन महामंगलकर है?

उ० – निश्चय ही । निर्जन भजन में पद – पद पर असुविधा है । हरिकथा कीर्त्तन करने पर दूसरे भी सुन सकते हैं । अत: कीर्त्तन में आत्ममंगल तथा श्रवणकारी का मंगल – अपना उपकार तथा परोपकार

दोनों ही हो जाते हैं । कीर्त्तन करते समय अपना भी श्रवण हो जाता है । कीर्त्तन से तीन प्रकार की हरिसेवा होती है – कीर्त्तन में हरिसेवा, अपने श्रवण से हरिसेवा, दूसरे को श्रवण करने के लिए सुयोग – दानरूप हरिसेवा । इसके अतिरिक्त कीर्त्तन के प्रभाव से स्मरण भी होता है । अत: स्मरणरूप हरिसेवा भी साथ में हो जाती है ।

प्र० – वैराग्य किसे कहते हैं?

उ० – भगवान के अतिरिक्त अन्य वस्तु में आसक्त न होकर भगवान के अनुशीलन में व्यस्त रहना ही वैराग्य है । किन्तु ऐसा न होकर फल्गुवैरागी होने पर मुश्किल में पड़ना पड़ता है । इससे स्वयं ही स्वयं की वञ्चना करना होगा । जिस प्रकार यदि लोहा लोहार से चालाकी करने जाये, तो उसे स्वयं ही ठगना पड़ेगा । इसलिए कहता हूँ कि गृह में रहो या वन में रहो, सब समय भगवान का अनुशीलन करो । भगवान की कथाओं की आलोचना करने पर अन्य विषयों से आसक्ति छूट जायेगी ।

प्र० – भगवान का आश्रय कैसे होगा?

उ० – मायाश्रय तथा भगवदाश्रय एक ही चीज़ नहीं है । दोनों का आश्रय एक ही साथ नहीं हो सकता । या तो मैं मायाश्रित – गृहाश्रित या फिर कृष्णाश्रित ही हो सकता हूँ । कृष्ण के प्रति आसक्त या कृष्ण की सेवा के प्रति आसक्त व्यक्ति ही कृष्णाश्रित है । इसीलिए प्रहलाद महाराज कह रहे हैं – अन्धकूपसदृश गृह को त्यागकर साधु के निकट गमनपूर्वक भगवान का आश्रय ग्रहण करो । दुर्बलतावशत: यदि गृह नहीं छोड़ पा रहे हो, तो गृह के प्रति आसक्ति त्यागकर साधुसंग में भगवान के आश्रित हो जाओ । तभी भगवदाश्रय होगा और तभी मंगल भी होगा । गृहासक्ति रखकर तथा गृहाश्रित रहकर भगवान का आश्रय ग्रहण करने का अभिनय करने पर भगवान की सेवा की प्रवृत्ति नहीं जागेगी तथा हमारा वास्तव कल्याण नहीं होगा । इससे हमें संसार के विषयों में ही डूबना होगा ।

मैं यदि भगवान का आश्रय ग्रहणकर घर में मत्त रहा, स्त्री-पुत्र-कन्या आदि की सेवा या उनके सुखविधान को मैंने अपना व्रत बना लिया-गृह सेवा को ही बड़ा मानकर भगवान की सेवा से उदासीन रहा, तो मुझे भगवान का आश्रय कैसे प्राप्त होगा? भगवान की सेवा करने से तो भगवत्सेवक का अभिमान उत्पन्न होगा । किन्तु क्या ऐसा हो रहा है? सेवा का फल-सेवा है । सेवा करने पर उत्तरोत्तर सेवा करने की व्याकुलता बढ़ेगी । मैं क्या कर रहा हूँ, मैंने किसका आश्रय लिया है, मेरा चित्त किस ओर धावित हो रहा है, इसे अच्छी प्रकार से देखना चाहिए । अन्यथा हम ठगे जायेंगे ।

विवाह के समय कन्या को पिता का आश्रय छोड़कर पति का आश्रय ग्रहण करना होता है । उस समय उसका गोत्र भी बदल जाता है । उस समय पितृगृह के प्रति आसक्ति नहीं रहती । जो जिसे आश्रय करता है, उसका संग तथा सेवा करते-करते उसके प्रति ही प्रीति हो जाती है ।

प्र० – वर्तमान में हमारी रुचि किस दिशा में है?

उ० - हमने पूर्व-पूर्व समय में जिन समस्त विचारों को श्रवण किया हुआ है, उनमें ही हमारी रुचि होती है । जिन विचारों को हमने सुना नहीं है, उनके प्रति हमारी रुचि नहीं होती । वर्तमान में हम भगवान से बहिर्मुख हैं । तभी (जड़) जगत की कथाओं में ही हमारी रुचि है । भगवान की कथा हमें रुचिकर प्रतीत नहीं होती ।

जड़ जगत के रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श ने हमारे ऊपर अपना अधिकार जमाकर हमें विषयों में नियुक्त कर रखा है । हम केवल इन्द्रिय तृप्ति (इन्द्रियों की प्रसन्नता) चाहते हैं । जो जितने परिमाण में हमारी इन्द्रियों को तृप्त कर सकता है, वह उतने ही परिमाण में हमें प्रिय होता है । हम शीघ्र फल प्रदान करने वाले अथवा आपात-रमणीय (केवल वर्त्तमान समय के लिए मनोरम लगनेवाले) विषयों का आदर

करते हुए संसार में नित्यकाल ऐसी इन्द्रिय-तृप्ति कर जीवन यापन करने में ही व्यस्त हो रहे हैं । हमारी बुद्धि वृत्ति उन्नत-स्तर (मनुष्यत्व) की ओर जाने के स्थान पर क्रमशः निम्न स्तर (पशुत्व) की ओर जा रही है । अतएव वर्तमान में हमारी रुचि (उस रुचि के अनुरूप हमारी सभी चेष्टाएँ) भगवान से विमुख दिशा की ओर हैं ।

हम साधारणतः जो समस्त बातें कहते हैं, वे (शब्द समूह) गुणजात (गुणों से उत्पन्न) अथवा जड़ होती हैं । किन्तु भगवद्भक्तगण जो समस्त कथाएँ कहते हैं, वे जड़-शब्द नहीं होते बल्कि निर्गुण होते हैं । निर्गुण-वस्तु अपनी इच्छा से इस जगत में आगमन कर सकती है, वह प्रपंच (जड़ जगत्) में अवतीर्ण होती है । इससे निर्गुण वस्तु के निर्गुणत्व की कोई हानि नहीं होती । उन शब्दों के भीतर ऐसी अलौकिक शक्ति होती है कि वह कानों में प्रविष्ट होकर मुनष्य की चेतनता को प्रस्फुटित (विकसित) कर देती है । वह शब्द हमें 'विरजा-ब्रह्मलोक' (इस ब्रह्माण्ड की सीमा) को भेदकर वैकुण्ठ में ले जा सकते हैं । जो शब्द परजगत से इस जगत में अवतीर्ण होते हैं, वे ही हमें वैकुण्ठ में ले जा सकते हैं और जो शब्द जड़-आकाश (जड़ जगत) से उत्पन्न होकर, कुछ क्षण जड़-आकाश में रहकर, जड़-आकाश में ही लय को प्राप्त हो जाते हैं, वे शब्द हमें नरक के मार्गपर ले जाते हैं ।

वर्तमान में इस जड़-जगत की कथाओं में ही हमारी रुचि है, तभी हमारी अशान्ति का अन्त नहीं हो रहा है । यदि वैकुण्ठ-कथा में हमारी रुचि होगी, तभी हमारा मंगल होगा, अन्यथा नहीं ।

प्र०-हम हरिकथा श्रवण करके भी उसके अनुसार आचरण क्यों नहीं कर पा रहे हैं?

उ०-जो भाग्यवान् हैं, वे ही हरिकथा श्रवणकर उसे समझ सकते हैं और (समझकर) उसके अनुसार आचरण करने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं । जो भाग्यहीन हैं, वे ऐसा समझते हैं कि हमने कथा श्रवण

की है । किन्तु यथार्थ में उनके द्वारा हरिकथा श्रवण करना नहीं हुआ । अतएव वे वञ्चित ही हुए ।

यदि हम भाग्यक्रम से भजनीय वस्तु की सेवा करने के लिए प्रवृत्ति-विशिष्ट (उन्मुख) हों, तभी हमारे कानों में कथा प्रवेश करेगी, हम कथा श्रवण एवं ग्रहण कर सकेंगे ।

(फिर भी) जिसकी जैसी अवस्था है, उसे उसी अवस्था से ही उन्नत होना होगा, अच्छा होना होगा ।

प्रतिमुहूर्त्त दैवी-माया हमें भगवान से विमुख करने की चेष्टा कर रही है और अज्ञ होने के कारण हम उसी माया को गले का हार बनाकर रखने में व्यस्त हैं । इसीलिए कह रहा हूँ-सावधान होओ, बुद्धिमान् होओ, और मूर्ख मत बनो । जीवन्त (जो वर्तमान में जीवित हैं, ऐसे) साधु का संग करो । तेजस्वी साधु के संग के प्रभाव से तुम्हारी सब असुविधाएँ हट जायेंगी । हृदय को बल प्राप्त होगा । किन्तु, जिस मुहूर्त्त हमारे रक्षाकर्त्ता नहीं रहेंगे, सत्संग का अभाव होगा, उसी मुहूर्त्त में ही हमारी पारिपार्श्विक (भगवत् सेवा के लिए उपयोगी) समस्त वस्तुएँ शत्रु होकर हमारे ऊपर आक्रमण करेंगी । जिस समय हम साधु के निकट हरिकथा श्रवण नहीं करेंगे, निष्कपट होकर साधु-गुरु की सेवा नहीं करेंगे, उसी समय सुयोग पाकर माया हमें ग्रास कर लेगी ।

अतएव जहाँ हरिकथा हो रही है, वास्तव में ही चेतन से चेतनमयी (निर्गुण तथा वीर्यवती) हरिकथा प्रकाशित हो रही है, वहाँ मनोयोग रखना ही हमारा कर्त्तव्य है । किन्तु इसके विपरीत जगत के अनुस्वार-विसर्ग (शब्द उच्चारण की परिपाटी) को लेकर सिर और जिह्वा का व्यायाम करने के लिए लाखों दल हैं । किन्तु, उन्हें परव्योम से आविर्भूत चेतनमय शब्द के तात्पर्य की उपलब्धि नहीं होगी । वे हरिकथा नहीं बोल सकते । उनकी कथा ग्रामोफोन (Recorder) की कथा के समान है । उनकी कथा श्रवण करके मंगल नहीं होगा, सत्य की उपलब्धि नहीं होगी, अपितु विषयों में ही डूबना होगा ।

प्र० – किसी व्यक्ति का प्रारम्भ में सत् उद्देश्य था, किन्तु कुछ समय बाद उस व्यक्ति का पुनः असत् उद्देश्य अथवा संसार प्रवृत्ति क्यों हो जाती है?

उ० – उसने निर्गुण हरिकथा में समय नहीं दिया अथवा वह श्रवण करने का ढोंग करके उस हरिकथा के प्रति अनमना (उदास) ही रहा । उसने आपात् – प्रयोजनीय सुख की चेष्टा से विरत होने की कभी चेष्टा नहीं की । वह असत् लोगों का परामर्श सुनकर इन्द्रिय – सुख के लिये ही व्यस्त रहा । यदि भगवान के श्रीचरणों का आश्रय ग्रहण करूँ, तो जागतिक विद्या का अर्जन करने अथवा नहीं करने, बल रहने अथवा नहीं रहने से कोई असुविधा नहीं होगी । जीव निर्गुण वस्तु है । किन्तु जब जीव स्वयं को जगत के गुणों से आबद्ध वस्तु समझता है, तब उसकी इस जगत के प्रति आसक्ति होती है ।

प्र० – भगवद्भक्तगण इस जगत में क्यों आते हैं?

उ० – भक्तगण जगत जीवों का उपकार करने के लिये ही इस जगत में आते हैं । उनका अपना कोई जागतिक कर्त्तव्य नहीं है । उन्हें इस जगत में आने की कोई आवश्यकता नहीं है । जीवों की विपरीत रुचि को परिवर्त्तित करना ही सर्वापेक्षा दयामय भक्तों का एकमात्र कर्त्तव्य है । यदि हम मूल विषय से च्युत हो जायें, भगवान के प्रति विमुख रहें, साक्षात् भगवत्सेवा युगधर्म हरिनाम संकीर्त्तन के प्रति उदासीन रहें, तो भूखे को अन्नदान, मूर्ख को विद्यादान आदि सब पशुश्रम (वृथा परिश्रम) हो जाता है ।

प्र० – क्या कामिनी – काञ्चन भक्ति बाधक हैं?

उ० – हाँ, निश्चय ही बाधक हैं । कनक, कामिनी, प्रतिष्ठा – ये जागतिक प्रिय वस्तुएँ वास्तव में एक – एक प्रलोभन देनेवाली वस्तुएँ मात्र हैं । हम बद्धजीव प्रतिमुहूर्त्त भोग की वस्तुओं के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं । माया प्रलोभन दिखाकर हमें आबद्ध कर रही है । वन में स्त्री – हाथी रूपी

प्रलोभन के द्वारा पुरुष–हाथी को वश में करके श्रृंखला में आबद्ध करने के समान माया स्त्री–संगादि का लोभ दिखाकर जीवों को संसार में आबद्ध कर रही है । असद्वस्तु को सत्यवस्तु समझकर, दुःखकर संसार को सुखकर समझकर जीव उसी की ओर धावित हो रहे हैं । माया ने सांसारिक क्षणिक सुखों को जीवों की वञ्चना करने के लिये ही रख रखा है । जगत में जो कुछ हमारे भोग–चक्षुओं को सुन्दर, अच्छा प्रतीत होता है, वे सब बड़िश (मछली फँसाने की बंसी) है । जो भोगी होंगे, वह वञ्चित होंगे, आबद्ध होंगे । 'खाऊँगा, पिऊँगा और नरक जाऊँगा'–यह बुद्धि मनुष्यजाति को ग्रास कर रही है, इससे अधिक लज्जा का विषय और क्या हो सकता है?

प्र० – क्या जगत में विशुद्ध साधु का आदर है?

उ० – विशुद्ध वस्तु दुर्लभ है, वह सहजता से प्राप्त नहीं होती । इसीलिए विशुद्ध वस्तु का आदर कम है । **जो समस्त साधु जीवों को विपथगामी (भगवान से विमुख) नहीं करके हरिकथा – कीर्त्तन के द्वारा भगवान के प्रति उन्मुख करने में व्यस्त रहते हैं, उन सभी साधुओं का आदर यहाँ (इस जगत में) नहीं है । जो धर्म के नाम पर लोगों को विपथगामी कर रहे हैं, उनके निकट जाकर वञ्चित होना ही वर्त्तमान काल में एक युगधर्म के रूप में खड़ा हो गया है । वास्तविक साधु लोगों के मन के अनुरूप कथा बोलकर उनकी वञ्चना नहीं करते, प्रतारक समन्वयवादियों के दोष साधु दिखला देते हैं ।** जिनका भाग्य अच्छा है, वही साधु की कथा सुनकर सावधान होते हैं । विशुद्ध साधु की कथा, भगवद्भक्त की कथा हमारी वर्त्तमान रुचि अथवा धारणा के विरुद्ध होने पर भी वही हमारे लिये मंगलकर है । विशुद्ध वस्तु के ग्राहक कम होते हैं । नकली वस्तु के ग्राहक ही अधिक हैं । 'दूध गली–गली जाकर बेचना पड़ता है, किन्तु मदिरा बैठकर ही बिक जाती है ।'

प्र० – दुर्बलता और कपटता – इन दोनों के बीच क्या पार्थक्य है?

उ० – कपटता एक भिन्न वस्तु है और दुर्बलता स्वतंत्र वस्तु है । इसलिए कपटता और दुर्बलता एक वस्तु नहीं हैं । कपटता रहित व्यक्ति का ही मंगल होता है । कपटी का मंगल नहीं होता । 'सरलता' का दूसरा नाम 'वैष्णवता' है । कपटी व्यक्ति अभक्त होता है । सरल व्यक्ति दुर्बल हो सकता है, किन्तु कपटी नहीं । जो कपटी होता है, उसके मुख पर एक बात होती है और मन में दूसरी । दुर्बल व्यक्ति अपनी असुविधा के लिये लज्जित, दुःखित और मर्माहत होता है, किन्तु कपटी व्यक्ति सदा अपनी बहादुरी को लेकर ही उन्मत्त रहता है ।

आचार्य के साथ छल करूँगा, वैद्य (आचार्यरूपी वैद्य) के नेत्रों में धूलि फेकूँगा, अपनी असत्-प्रवृत्ति रूपी कालसर्प को कपटता की कोठरी में छुपाकर दूध-केला देकर उसका पोषण करूँगा, लोगों को इसे जानने नहीं दूँगा तथा लोगों के निकट साधु सजकर प्रतिष्ठा (सम्मान) प्राप्त करूँगा – ऐसी बुद्धि दुर्बलता नहीं, अपितु भीषण कपटता है । ऐसे व्यक्ति का किसी काल में भी मंगल नहीं होगा । निष्कपट होने की प्रवृत्ति लेकर विनीत भाव से साधु के श्रीमुख विगलित कथा श्रवण करते-करते क्रमानुसार मंगल होगा । यदि हम भक्त का वेश लेकर अन्य कार्यों में व्यस्त हो पड़ें, संसार के कार्यों को ही गुरुत्व प्रदान करके उनमें ही मग्न रहें अथवा त्रिदण्ड लेकर रावण के समान सीता-हरण की दुर्बुद्धि का ही पोषण करें, तो ऐसा होने पर अपने हाथों से स्वयं अपना गला काटना होगा तथा हरिभजन के नाम पर और कुछ करना होगा । यदि लाख-लाख जन्म हममें दुर्बलता रहे, अनर्थ रहें, तो उसमें कोई विशेष क्षति नहीं है । किन्तु यदि एकबार भी कपटता का आश्रय करूँ, भक्त के रूप में सजकर भोगों में ही मत्त रहूँ, तो ऐसा होने पर असुविधा ही रहेगी । **पशु – पक्षी, कीट – पतंग आदि लाख – लाख**

योनियों में रहना अच्छा है किन्तु कपटता का आश्रय करना कदापि अच्छा नहीं है ।

प्र० – हमारी दुर्गति का कारण क्या है?

उ० – **'मैं कौन हूँ?'** – इस विचार की आलोचना नहीं होने पर ही हमारी दुर्गति होती है । संसार के नाना प्रकार के प्रलोभन हमें आकर्षित करते रहते हैं । जिस मुहूर्त्त हम थोड़ा – सा भी असतर्क होते हैं, उसी मुहूर्त्त माया – राक्षसी हमारे गले को पकड़कर हमें निगल लेती है । प्रतिदिन भगवत् – कथा श्रवण करने के अतिरिक्त इस माया के कवल से उद्धार पाने का और कोई उपाय नहीं है ।

प्र० – श्रीमन्महाप्रभु के मतानुसार मानव जीवन का सर्वप्रधान कर्त्तव्य क्या है?

उ० – प्रथमत: हमें जानना होगा कि – 'हम कौन हैं?' उसके बाद – 'हमारा कर्त्तव्य क्या है?' – यह हम सहज रूप में ही जान जायेंगे ।

श्रीगौरांगदेव ने हमें यह शिक्षा प्रदान की है – हम कार्ष्ण (कृष्ण की) वस्तु हैं, हम वैष्णव अर्थात् कृष्ण – सम्बन्धीय वस्तु हैं (वस्तुत: कृष्ण अथवा विष्णु में कोई भेद नहीं है) किन्तु हम कृष्ण अथवा विष्णु नहीं हैं क्योंकि हम अणु चेतन वस्तु हैं । भगवान विभु (बृहत्) चेतन वस्तु हैं । जीव कभी भी ईश्वर – पदवाच्य नहीं हो सकता । कार्ष्णस्वरूप में कृष्णसेवा के अतिरिक्त हमारा अन्य कोई कृत्य नहीं है । जब हम कृष्णसेवा से विमुख होते हैं, तभी हम स्वरूप विस्मृत होकर माया के कवल में कवलित होते हैं । साधु – गुरु की कृपा से जब हमारा समबन्ध ज्ञान उदित होता है, तब हम समझ पाते हैं कि हम कृष्ण के नित्यदास हैं एवं 'ईशावस्यमिदं सर्वं' अर्थात् समस्त जागतिक वस्तुएँ भगवान की सेवा के उपकरण हैं ।

'केह माने, केह न माने, सबे कृष्णदास' – हम श्रीकृष्ण के सेवक हैं । श्रीकृष्ण जीव के नित्य प्रभु हैं । ***कृष्ण सेवा ही जीव का***

नित्यकृत्य, सर्वप्रधान अथवा एकमात्र कर्त्तव्य है । इसके अतिरिक्त हमारा और कोई कृत्य नहीं है । किन्तु जब हम परमेश्वर की सेवा से विमुख होते हैं, तभी हम 'अहंकार विमूढ़ात्मा' (अहंकार से विमूढ़ व्यक्ति) होकर स्वयं को प्रकृति का भोक्ता अथवा कर्त्ता समझकर अभिमान करते हैं किन्तु यह अभिमान प्राकृत है ।

जब हमारी चेतनवृत्ति बाहरी जगत के विषय का भोग करने में प्रमत्त रहती है, तब इस वृत्ति को 'मन' कहते हैं । यह 'मन' आत्मस्वरूप की 'विरूप-अवस्था' (विपरीत अवस्था) है अर्थात् जड़ का भोक्ता है । यह 'मन' आत्मा की सुप्त (निद्रा) अवस्था में जागृत रहकर peon-स्वरूप में कर्त्तृत्व अभिमान से विषय भोग करता है । यह 'मन' ही आत्मा को वञ्चित करके सुख-दुःख भोग करता है । पाप-पुण्य के वशीभूत होकर कभी स्वर्ग, कभी नरक भोग करता है । अतः यह मन ही आत्मा का सर्वप्रधान शत्रु है । इस मन का निग्रह करना ही समस्त शास्त्रों का अभिप्राय है ।

हम सभी को 'मुक्त' होना होगा । मुक्त अवस्था और कुछ नहीं है, स्वरूप में अवस्थित होकर सर्वेन्द्रियों से अनुकूल रूप से कृष्ण का अनुशीलन (प्रीतिविधान) ही 'मुक्त' अवस्था है । भाग्यक्रम से जब आत्मा जागृत होती है, तब-'परमात्मा रूपी कृष्ण की नित्यसेवा ही मेरे स्वरूप का नित्यधर्म है'-यह विचार समझ में आता है ।

भगवद्भजन और भगवद्कृपा ही नित्यमंगल का उपाय है । मनुष्य शरीर ही भजन का मूल है । मनुष्य के अतिरिक्त और किसी देह में हरिभजन नहीं होता ।

श्रीगौरांगदेव संकीर्त्तन-प्रवर्त्तक, कलियुग-पावनावतारी और महावदान्य हैं । उन्होंने 'तृणादपि सुनीच' श्लोक के चार वाक्यों में सर्वदा कृष्ण कीर्त्तन ही जीवों का एकमात्र कृत्य है, यह शिक्षा प्रदान की है । जो संसार से निष्कृति प्राप्तकर परमानन्द प्राप्त करने के इच्छुक हैं,

नित्यानन्द रूपी धन में धनी होने के अभिलाषी हैं, वे निरन्तर श्रीनामसंकीर्त्तन करेंगे । यह हरिनाम हरि से अभिन्न हैं । शब्दब्रह्म कृष्णनाम संसार से हमारा उद्धार कर हमें कृष्णज्ञान और कृष्णप्रेम प्रदान कर सकते हैं ।

'तृणादपि सुनीच' अर्थात् तृण से भी सुनीच होकर कृष्ण नाम करना होगा । 'तृणादपि सुनीच' भाव ही 'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान को मूल से नष्ट करने वाला है । कीर्त्तनकारी भक्तजन स्वयं को श्रीनाम के सेवक के रूप में जानते हैं । वे जगत के प्रत्येक जीव को कृष्णभोग्य (श्रीकृष्ण के भोग्य) एवं प्रत्येक वस्तु को कृष्णसेवा का उपकरण ही मानते हैं ।

श्रीकृष्ण का नाम, स्वरूप और विग्रह श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं । श्रीनाम साक्षात् सच्चिदानन्द-विग्रह हैं । श्रीकृष्णनाम श्रीनन्द के नन्दन, श्रीयशोदा के दुलाल हैं । श्रीनाम बात कर सकते हैं । श्रीकृष्णनाम अन्तर्यामी, सर्वज्ञ हैं । नामरूपी कृष्ण सरल हृदय, चिन्मय नयन, सेवोन्मुख जिह्वा, श्रवणोन्मुख कान, कृष्ण की इन्द्रियों को प्रीति प्रदान करने में उन्मुख इन्द्रियों में स्फुरित होते हैं ।

श्रीकृष्णनामसंकीर्त्तन से सर्वाभीष्ट प्राप्त होता है । श्रीकृष्णसंकीर्त्तन के आभास से समस्त पाप क्षय और संसार बन्धन शिथिल होता है । तब नामाभास से मुक्त होकर जीव (शुद्ध) श्रीनामसंकीर्त्तन का अधिकारी होता है । श्रीकृष्णनाम अखिलरसामृत-सिन्धु हैं । भगवद्भक्तगण श्रीनामसंकीर्त्तन करते हुए श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं ।

श्रीनामसंकीर्त्तन से हमारे समस्त अमंगल विदूरित होते हैं एवं चित्त निर्मल होने पर श्रीनाम उदित होते हैं । श्रीकृष्णनाम पुरुषोत्तम वस्तु हैं । श्रीनाम लीला पुरुषोत्तम हैं । श्रीकृष्णनाम परमपुरुष, परमेश्वर वस्तु हैं । श्रीनाम स्वेच्छामय स्वतंत्र हैं । श्रीनाम जगदीश्वर, विश्व के नियामक, पालक और रक्षक हैं । जितनी भी बाधा-विघ्न क्यों नहीं रहें,

श्रीनाम अशेष बाधा-विघ्न हरण करते हैं । हृदय में जितने भी कु-संस्कार क्यों नहीं रहें, श्रीकृष्णनाम उच्चारण से हृदय निर्मल होता है, समस्त भूल-भ्रान्ति विदूरित होती हैं । अवश्य ही नामोच्चारण काल में प्रथम अवस्था में हृदय में जन्म-जन्मान्तर की अनर्थ राशि होने के कारण संभव है शुद्धनाम उच्चारित नहीं हों किन्तु अविश्रान्त नामोच्चारण के प्रभाव से वे समस्त अनर्थ क्रमशः दूरीभूत हो जाते हैं । कृष्णनाम में ही सर्वशक्तियाँ, सर्वसुविधा, समस्त आनन्द है । कृष्णनाम अखण्ड, पूर्णानन्द और पूर्णज्ञानमय हैं ।

निर्गुण हृदय में निर्गुण कृष्णनाम उदित होते हैं । सगुण हृदय में कृष्णनाम उदित नहीं होते । कृष्ण ही हमारी एकमात्र उपास्य वस्तु हैं । प्रेमपूर्ण हृदय में उन प्रेम के ठाकुर की उपासना होती है । ऐश्वर्य शिथिल प्रेम के द्वारा प्रेममय कृष्ण की सेवा नहीं होती ।

अखिलरसामृतमूर्त्ति कृष्णनाम के साथ रामनाम की तुलना नहीं हो सकती । कृष्णनाम में जो रसामृतसिन्धु उद्वेलित होता है, रामनाम में उसके कोटि अंश का एकांश भी उदित नहीं होता क्योंकि कृष्णनाम पूर्णतम एवं रामनाम पूर्ण हैं । कृष्णनाम पूर्णतम, अवतारी, अंशी हैं और रामनाम पूर्ण, अंश और अवतार हैं । कृष्णनाम समस्त सत्ता, समस्त ज्ञान और समस्त आनन्द के आकर हैं । वे सर्वकारणकारण हैं । निष्कपट निर्गुण सेवकों की प्रेमसेवा कृष्णनाम ग्रहण करते हैं । श्रीकृष्ण अवतारी, रामचन्द्र अवतार हैं । श्रीकृष्ण लीला-पुरुषोत्तम हैं । श्रीकृष्ण में लीलामाधुरी, वेणुमाधुरी, रूपमाधुरी और प्रेममाधुरी पूर्ण मात्रा में हैं, श्रीरामचन्द्र में यह समस्त गुण परिलक्षित नहीं होने पर भी वे साठ गुण सम्पन्न नारायण, विष्णु और सभी देवताओं के ईश्वर, मायाधीश पूर्णब्रह्म और सनातन हैं । श्रीकृष्ण चौंसठ गुण सम्पन्न स्वयं भगवान हैं, वे नन्दनन्दन हैं ।

प्र० – क्या गुरु – अवज्ञा महा – अपराध है?

उ० – निश्चय ही । **गुरु – अवज्ञा तृतीय नामापराध है ।** गुरु के प्रति मनुष्यबुद्धि, प्राकृतबुद्धि, लघुबुद्धि ही गुरु – अवज्ञा है । गुरु के आदेश का उल्लंघन करना एवं गुरुसेवा नहीं करना भी गुरु – अवज्ञा अथवा गुरु के चरणों में अपराध अर्थात् नामापराध है । गुरु के प्रति अपराध होने पर कदापि नाम नहीं होगा – मंगल नहीं होगा । श्रीगुरुदेव की कृपा के बिना मानव अपने जन्म, ऐश्वर्य, श्रुत (विद्या) एवं श्री (रूप) के प्रभाव से अहंकार – विमूढ़ात्मा होकर भगवान के चरणकमलों की सेवा प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता है । श्रीगुरुदेव स्वयंरूप भगवान के साक्षात् प्रकाशविग्रह हैं । वे आश्रयजातीय सेवक – भगवान हैं एवं विषयजातीय सेव्य – भगवान से स्वतंत्र नहीं हैं । श्रीगुरुपादपद्म लीलापुरुषोत्तम नन्दनन्दन से अचिन्त्यभेदाभेद तत्त्व – विशिष्ट हैं । जिस प्रकार सूर्य के आलोक की सहायता से ही सूर्य का दर्शन सम्भव हो सकता है, कृत्रिम आलोक में सूर्य का दर्शन सम्भवपर नहीं हो सकता, उसी प्रकार गुरुकृपा के बल से विषयवासनारूपी अग्नि के सम्पूर्ण रूप में बुझने पर श्रीकृष्ण का साक्षात्कार प्राप्त होता है ।

हम अधोक्षज (इन्द्रिय से अतीत) वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने की जितनी भी चेष्टा क्यों नहीं करें, श्रीगुरुपादपद्म की कृपाकण के बिना हमारी वे समस्त चेष्टाएँ ही भूसा – कूटने के समान केवल पशु – श्रम मात्र है । शास्त्रज्ञान में अधिकार गुरुकृपा के आलोक पर निर्भर करता है । अक्षज (इन्द्रियों से उत्पन्न) ज्ञान से शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा भस्म में घी – की आहुति देने के समान विफल है ।

शास्त्रवाक्यों और गुरुवाक्यों के प्रति हमारे द्वारा अनास्था प्रदर्शित करना उचित नहीं है, इससे अपराध होता है । भगवद् – ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रवाक्यों और गुरुवाक्यों के प्रति श्रद्धायुक्त होना एकान्त आवश्यक है । शास्त्रवाक्यों के प्रति अनादर ही चतुर्थ नामापराध है ।

प्र० – कृष्ण की उपासना कौन कर सकते हैं?

उ० – 'मैं कृष्ण का हूँ, कृष्ण मेरे हैं' – इस प्रकार एकनिष्ठ नहीं होने पर कृष्ण की उपासना नहीं होती । 'मैं कृष्ण का हूँ, मेरी प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है' – जिनमें ऐसी अकिञ्चना – भक्ति है, उनके द्वारा ही कृष्ण की उपासना सम्भव है । मेरे स्वार्थ का विषय एकमात्र कृष्ण हैं एवं मैं कृष्ण का हूँ, इसके अतिरिक्त कृष्ण से पृथक अन्य स्वार्थ के प्रति मेरी कोई सहानुभूति नहीं है – यही भक्त का विचार होता है ।

जो कृष्ण को सर्वस्व देते हैं, वे ही कृष्ण का सर्वस्व प्राप्त कर पाते हैं । जो कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को कुछ देना चाहते हैं, वे कृष्ण को प्राप्त नहीं कर सकते । कृष्ण क्या वस्तु हैं, कृष्णप्रीति किसको कहते हैं, वे इसे समझ नहीं पाते, इसीलिये वे कृष्णसेवा के अतिरिक्त नाना कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं ।

तभी देशसेवा, मनुष्यसेवा, आत्मीय – स्वजनों की सेवादि भिन्न – भिन्न सेवाओं का विचार उपस्थित होता है । तब हम गुरुपादपद्म की सेवा से वञ्चित हो जाते हैं । गुरु – कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त हमारा और कोई स्वार्थ नहीं है – इस विचार के द्वारा यथार्थ स्वार्थपर होना ही वास्तविक बुद्धिमान् का कार्य है ।

प्र० – क्या भक्त विद्वेषी के प्रति क्रोध करना भक्ति है?

उ० – भक्त – विद्वेषी के प्रति क्रोध करना ही होगा, यह भजन का विशेष अंग है, ऐसा नहीं करना ही अन्याय है । किन्तु भक्तविद्वेषी कौन हैं? – यह विचार करना आवश्यक है । जो परम आनन्दमय सर्वान्तर्यामी जगद्बन्धु श्रीभगवान की सेवा नहीं करते, वे अपना मंगल तो करते ही नहीं हैं, अपितु कृष्ण – कार्ष्ण (कृष्ण भक्त) के प्रति विद्वेष के द्वारा अपना अमंगल ही आवाहन करते हैं । ऐसे कृष्णद्वेषी अथवा कार्ष्णद्वेषियों के प्रति दया नहीं दिखानी चाहिये । अकृष्ण की उपासना में मत्त ऐसे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा अथवा क्रोध प्रदर्शन करना ही

होगा । किन्तु मैं स्वयं भक्त-विद्वेषी हूँ अथवा नहीं, पहले यह विचार करना होगा । मैं कृष्णसेवा कर रहा हूँ अथवा कृष्णसेवा के छल से कुछ और कर रहा हूँ, कृष्ण के प्रति मेरा कितना अनुराग है, मैं कृष्ण के भोग की वस्तु को कृष्ण के साथ छल करके स्वयं ही भोग तो नहीं करना चाहता, यह परीक्षा (आत्म-निरीक्षण) करने की आवश्यकता है ।

मैं देख रहा हूँ कि मैं और मेरी भोगलोलुप देह कृष्ण-कार्ष्ण के प्रति प्रबल विद्वेषी हैं । सर्वक्षण श्रीकृष्ण के चरणकमलों का चिन्तन और उनके सुखकी चिन्ता नहीं करके मैं अपने सुख, परनिन्दा, परचर्चा और दूसरों के दोषों को ढूँढ़ने में व्यस्त हूँ । मैं स्वयं अपनी ओर एकबार भी दृष्टिपात नहीं करता । मैं स्वयं ही तो इतना बड़ा भक्तविद्वेषी हूँ, अतः पहले अपने ऊपर क्रोध प्रकाश करना होगा, स्वयं को पवित्र करना होगा । जिससे स्वयं आदर्श-चरित्र होकर मंगल प्राप्त कर सकूँ, निष्कपट रूप से सब समय हरि-गुरु-वैष्णव सेवा कर सकूँ इसके लिये सचेष्ट होना होगा, तभी मंगल होगा । सभी हरिभजन कर रहे हैं, मेरा हरिभजन नहीं हुआ, इसी मुहूर्त्त में मृत्यु हो सकती है, अतः सर्वक्षण इन समस्त विचारों के प्रति मनोयोग करना होगा ।

पहले अपने मंगल के लिये अपनी दुष्प्रवृत्तियों के प्रति, कृष्ण भजन की प्रतिबन्धक लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा, कुटिनाटि आदि के प्रति क्रोध प्रकाश करके उनका दमन करना होगा । पहले स्वयं अपनी ओर देखने की आवश्यकता है । ऐसा नहीं होने पर अमंगल उपस्थित हो जायेगा । तत्पश्चात् मेरे अतिरिक्त जो मेरे देहसम्बन्धीय आत्मीयजन हैं, जो गुरुविद्वेष अथवा कृष्ण-कार्ष्ण के प्रति विद्वेष कर रहे हैं एवं भोक्ता के रूप में सजकर मुझे माया की ओर आकर्षित कर रहे हैं, उनके प्रति क्रोध प्रकाशित करना होगा, तभी हमारा मंगल होगा, अन्यथा नहीं ।

प्र० – 'हरे कृष्ण' महामंत्र वेद अथवा शास्त्रों में कहाँ है?

उ० – **श्रीहरिनाम साक्षात् श्रीहरि हैं ।** शास्त्रों के प्रकाशित

होने से पहले महामंत्र अथवा श्रीनाम ही थे, इसका प्रमाण हम चतुःश्लोकी भागवत के 'अहमेवासमेवाग्रे' (श्रीमद्भा० – 2/9/33) श्लोक में पाते हैं । सर्वतन्त्र – स्वतंत्र श्रीनाम शास्त्राधीन नहीं हैं । शास्त्र जिनकी इच्छा से प्रकाशित होते हैं, वह परात्पर वस्तु ही श्रीनाम अथवा महामंत्र हैं । शास्त्र पहले हैं एवं श्रीनाम अथवा महामंत्र बाद में हैं – ऐसा नहीं है । ब्रह्मसंहिता ग्रन्थ में देखा जाता है कि ब्रह्मा के हृदय में सर्वप्रथम श्रीनाम ही प्रकाशित हुए थे । ॐ **आहस्य ज्ञानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे** ॐ **तत्सत्** – इस मंत्र में प्राचीनतम ऋग्वेद में भी श्रीनाम के विषय में उल्लेख किया है ।

यजुर्वेदीय कलिसन्तरणोपनिषद्, बृहन्नारदीयपुराण, ज्ञानामृतसार, अथर्ववेद की पिप्पलादशाखा, श्रीकृष्ण चैतन्यचरित – महाकाव्य, ब्रह्मयामल, श्रीचैतन्यभागवत, श्रीचैतन्यमंगल, राधातन्त्र, पद्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, सनतकुमार – संहिता, श्रीचैतन्यचरितामृत, अनन्तसंहिता, श्रीमद्भागवत, अथर्ववेदीय चैतन्योपनिषद्, अग्निपुराण, श्रीबृहद्भागवतामृतम्, श्रीनामकौमुदी आदि विभिन्न ग्रन्थों में महामंत्र अथवा श्रीनाम के विषय में उल्लेख है । स्वयं भगवान् श्रीगौरसुन्दर के श्रीमुख से भी हम महामंत्र का उपदेश पाते हैं ।

प्र० – हमारा एकान्तिक कर्त्तव्य क्या है?

उ० – हमारे बहुत से कार्यों में कौन – सा हमारा एकान्तिक कर्त्तव्य है? इस विषय में श्रीशिवजी कहते हैं – जीव के जितने प्रकार के कर्त्तव्य हैं, उनमें विष्णु की सेवा ही उसका सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है । किन्तु उसकी अपेक्षा भी विष्णु भक्त अर्थात् गुरु – वैष्णवों की सेवा ही अधिक श्रेष्ठ कर्त्तव्य है ।

श्रीहरि परतत्त्व वस्तु हैं । परतत्त्व अप्राकृत विशेषताओं से युक्त व्यक्तित्व हैं । हमारी सत्ता भी नित्यव्यक्तित्व – सम्पन्न है । अतएव नित्य और पूर्णव्यक्तित्व युक्त परतत्त्व की उपासना करना ही हमारा प्रयोजन

है । व्यक्ति के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध ही स्वाभाविक एवं सम्पूर्ण प्रयोजन को प्रदान करने वाला है । परतत्त्व के साथ हमारा सम्बन्ध और प्रयोजन होने पर हमारे समस्त कार्य ही परतत्त्व के उद्देश्य से कृत होने संगत हैं ।

प्र० – परतत्त्व का साक्षात्कार किस प्रकार होगा?

उ० – यहाँ (इस जगत में) परतत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त नहीं होता । हमारी वर्त्तमान नश्वर इन्द्रियों के द्वारा परतत्त्व के निकट पहुँचा नहीं जा सकता । तब फिर उपाय क्या है? हमारे द्वारा अकपट सेवोन्मुख होने पर परतत्त्व स्वयं कृपापूर्वक अवतीर्ण होकर हमारी इन्द्रियों की समस्त बहिर्मुखता को दूरकर हमारी इन्द्रियों को सेवा करने की योग्यता प्रदान करते हैं ।

यदि हम परतत्त्व – भगवान की सेवा करने के लिये यत्न नहीं करें, तो अन्य वस्तु की सेवा करके निष्कृति प्राप्त नहीं कर सकेंगे । आत्मा के द्वारा ही परमात्मा की सेवा सम्भव है । सेवा प्राप्त करने का एकमात्र उपाय शरणागति है । हम अपने ऊपर निर्भर होकर विपत्तिग्रस्त नहीं होंगे, अपितु भगवान के ऊपर सम्पूर्ण निर्भर करेंगे । भगवान की सेवा करने जाकर हम अन्य कार्य नहीं कर पाये, ऐसा विचारकर शोक नहीं करेंगे ।

परतत्त्व की सेवा से विहीन होने पर जागतिक परोपकार में नियुक्त होना अथवा आत्मीयस्वजनों की सेवा करना ही कर्त्तव्य के रूप में विवेचित होगा किन्तु आत्मा का एकमात्र लक्ष्य, एकमात्र नित्य आकांक्षा – परतत्त्व की नित्य सेवा है ।

सर्वप्रथम स्वयं आचरणीय होने पर ही मंगल है, अन्यथा संसार – चक्र में ही भटकना होगा ।

प्र० – भक्तलोग सेवा छोड़कर क्या अन्य किसी वस्तु की अभिलाषा करते हैं?

उ० – नहीं । धर्म – अर्थ – काम तो पदाघात करने के विषय हैं । भोगी लोग इन सभी वस्तुओं के प्रार्थी होते हैं । शुद्धभक्त कभी भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं चाहते । वे एकमात्र सेवा के प्रार्थी होते हैं । चित्त के निर्मल होने की आवश्यकता है अन्यथा सेवा का अभिनय करके वञ्चित होना होगा ।

मेरे बहुत से बन्धु – बान्धव थे किन्तु वे अब अन्य कार्यों में नियुक्त हो गये हैं । वे बाहर से तो हरिभजन की चेष्टा दिखलाते हैं किन्तु कार्यतः अन्तर में अन्य विषयों में नियुक्त हैं ।

प्र० – माप लेने का क्या अर्थ है?

उ० – माप लेने का अर्थ है – भोग करना । वास्तविक विचार से मुक्ति प्राप्त करने के लिये नेत्र, कर्णादि इन्द्रियों के द्वारा माप लेने की प्रवृत्ति को छोड़ देना होगा ।

प्र० – क्या इन्द्रियों से अतीत भगवान की सेवा इन जड़ – इन्द्रियों के द्वारा होती है?

उ० – 'स्थूल शरीर के द्वारा भगवान की सेवा की जाती है' – ऐसा विचार कोई न करे । चक्षु, कर्णादि स्थूल इन्द्रियों एवं मनादि सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा हरिभजन नहीं होता । किन्तु ये इन्द्रियाँ ही इस जगत का आश्रय हैं, इसीलिये श्रीलरूप गोस्वामी प्रभु ने इन्द्रियाँ किस प्रकार अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों से अतीत राज्य में पहुँच सकती हैं, इसका एक कौशल बतलाया है । श्रीलरूप गोस्वामी ने कहा है कि इन्द्रियाँ जब अपनी चेष्टा से अतीन्द्रिय वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं, तब वे अतीन्द्रिय वस्तु तक पहुँच नहीं पातीं । इसीलिये आरोहवादी अप्राकृत वस्तु का सन्धान नहीं पाते । किन्तु जब इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय – राज्य से अवतीर्ण सेवोन्मुखता से आलोकित होती हैं, तभी इन्द्रियों को अतीन्द्रिय विषय को

धारण करने की योग्यता प्राप्त होती है । तब फिर इन्द्रियों की बहिर्मुखता नहीं रहती, इन्द्रियाँ सेवोन्मुखता से प्रकाशित होकर अतीन्द्रिय के अन्त:पुर में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त करती हैं ।

प्र० – अध:पतन का क्रम क्या है?

उ० – कार्ष्ण (कृष्ण भक्त) से निम्न स्तर पर आने से वैष्णव (विष्णु भक्त), वैष्णव से निम्न स्तर पर आने पर निर्विशेषवादी, वहाँ से निम्न स्तर पर सद्भोगी अथवा कर्मी, वहाँ से उच्छृंखल व्यभिचारी अन्याभिलाषी होना पड़ता है ।

प्र० – 'हरे' शब्द का क्या अर्थ है?

उ० – कुछ लोग 'हरेकृष्ण' नाम में हरि – शब्द के सम्बोधन रूप को 'हरे' कहकर विचार करते हैं । जो विषयतत्त्व की तुलना में अधिकतर आश्रयतत्त्वनिष्ठ हैं अर्थात् जिनकी सेवावृत्ति अधिकतर प्रकाशित है, वे हरा – शब्द के सम्बोधन से हरे (अर्थात् राधे) पद समझते हैं । श्रीराधाजी प्रीति के द्वारा कृष्ण का मन हरण करती हैं, अत: उनका एक नाम हरा है । **कृष्णमनो हरति इति हरा ।**

प्र० – क्या भक्ति पथ का ही आश्रय करना चाहिए?

उ० – एकमात्र भगवद्भक्ति को छोड़कर कर्म – ज्ञानादि की चेष्टा मूढ़ता अर्थात् अनाचार है । श्रीराधागोविन्द की सेवा के अतिरिक्त और जितने विचार हैं, वे सब आत्मा की नित्यवृत्ति को आच्छादित करने के विचार हैं । हरि सब कुछ हरण करते हैं । क्या हरण करते हैं? वे चमड़ा, मांस हरण नहीं करते । वे मुझे अर्थात् आत्मा को चाहते हैं । भक्ति का आश्रय ग्रहण करने पर अर्थात् भगवान के ऊपर निर्भर करने पर जीव के समस्त जागतिक दायित्व समाप्त हो जाते हैं ।

प्र० – ॐकार शब्द का अर्थ क्या है?

उ० – नाम की प्रथम अवस्था – प्रणव अर्थात् ॐकार है और उसकी सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित अवस्था कृष्ण है ।

प्र० – त्रिदण्डी किसे कहते हैं?

उ० – मनुष्य जीवन की सर्वोत्तम आशा त्रिदण्डी होना है । त्रिदण्डी का अर्थ है – 'अमानी – मानद – सहिष्णु हरिकीर्त्तनकारी' । वैष्णव ही देवता हैं । किन्तु वे देवता होने का अभिमान या फिर शर्मा (ब्राह्मण होने का) अभिमान नहीं करते । वे तृणादपि सुनीच होते हैं । त्रिदण्ड ग्रहण करना ब्राह्मणजीवन का सर्वप्रधान कर्त्तव्य है । काय – मन – वाक्य इन तीनों को अन्य कार्यों में नियुक्त नहीं करके भगवद्सेवा में नियुक्त करना ही त्रिदण्डग्रहण है ।

प्र० – स्त्री के संग वास करना क्या उचित है?

उ० – गृहस्थ केवल सन्तान – उत्पत्ति के उद्देश्य से यथासमय स्त्री के साथ एकत्र वास करेंगे । अपनी इन्द्रियों के सुख के लिये स्त्री के संग वास करना अनुचित है । अपनी इन्द्रियों का तर्पण हरिभक्ति में बाधक है ।

प्र० – क्या कृष्ण भजन के अतिरिक्त जीवों का कोई और कार्य है?

उ० – नहीं । श्रीकृष्ण के वचन हैं – तुम सभी का एकमात्र कृत्य मेरी उपासना है । मुझे लेकर ही तुम्हारे समस्त कार्य हैं । तुम्हारा और कोई कार्य नहीं है । तुम्हारे नेत्र, कान, मुख, नाक सबके द्वारा मेरा कार्य (अर्थात् मेरी सेवा) ही तुम्हारा एकमात्र कृत्य है ।

प्र० – क्या साधु – गुरु की पदधूलि ग्रहणीय नहीं है?

उ० – साधु – गुरु के द्वारा कृपापूर्वक अपनी पदधूलि देने पर वह ग्रहणीय और मंगलकर है । बलपूर्वक अथवा अनुरोध करके साधु की पदधूलि लेने पर अमंगल की सम्भावना है ।

एकदिन वृन्दावनचन्द्र लस्कर नामक व्यक्ति के द्वारा मेरे श्रीगुरुदेव (श्रील गौरकिशोर दास बाबाजी महाराज) के पदस्पर्श करने पर उन्होंने दुःखित होकर कहा था – तुमने मेरा पदस्पर्श किया, तुम्हारा सर्वनाश हो ।

लस्कर के द्वारा मुझे यह बात बतलाने पर मैंने कहा–'श्रीगुरु के चरणकमल ब्रह्मादि के लिये भी दुर्लभ वस्तु हैं । उनके श्रीचरणों का स्पर्श करने का हमारा क्या अधिकार है? हमारी योग्यता नहीं होने पर हम पापमय और अपराधमय हृदय लेकर उनके निकट नहीं जा सकते । मेरे श्रीगुरुपादपद्म ने एकदिन निजगुणों से कृपा करके स्वयं अपने श्रीचरणों की धूलि लेकर प्रचुर परिमाण में मेरे मस्तक को अभिषिक्त किया था । उनकी इतनी दया है ।'

प्र० – भगवान किस प्रकार रक्षा करते हैं?

उ० – वास्तव सत्य भगवान सर्वज्ञ हैं । वे करुणामय वास्तव सत्य पतित जीवों का उद्धार करने के लिये अर्थात् उनकी विकृत धारणा को परिवर्त्तित करने के लिये अपने महामुक्त प्रतिनिधियों को इस जगत में भेजते हैं ।

प्र० – क्या चौबीस – घण्टे ही भगवान की सेवा करनी चाहिए?

उ० – हमें चौबीस – घण्टे ही परमार्थ के साथ संयुक्त रहना होगा । चौबीस घण्टे में – से एक सैकेण्ड के लिये भी हम और कुछ इच्छा नहीं करेंगे, यही हमारा स्वरूप – धर्म है । यदि हम अपनी प्रत्येक चेष्टा को, प्रत्येक अनुशीलन को भगवान के सम्बन्ध से निर्बन्ध कर सकें, तो ऐसा होने पर चौबीस – घण्टे में – से चौबीस – घण्टे ही हम भगवत – सेवा के अतिरिक्त निश्चित ही अन्य कोई कार्य नहीं करेंगे । वैष्णवगण चौबीस – घण्टे हरिभजन करते हैं किन्तु ऐसे वैष्णव अधिक नहीं पाये जाते ।

प्र० – सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ कौन सा है?

उ० – श्रीमद्भागवत के समान महामूल्य ग्रन्थ इस जगत में नहीं है । साधु – गुरु के संग और सेवा के अतिरिक्त इस भागवत ग्रन्थ के विचारों को समझना अति कठिन कार्य है ।

प्र० – दुर्बुद्धि क्या है?

उ० – मैं जड़ का भोक्ता हूँ – यही दुर्बुद्धि है । यह दुर्बुद्धि जीव का सर्वनाश करती है । मैं भगवान का सेवक हूँ – यही सुबुद्धि है ।

प्र० – भगवान किसके निकट प्रकाशित नहीं होते?

उ० – भगवान विभुचित् हैं और जीव अणुचित् है । अणु में – से ही यदि फिर कोई चोरी करके अपने लिये कुछ रख ले अर्थात् भगवान को इतना (अणुभाग) भी नहीं दूँगा, यह विचार करे, तो ऐसा होने पर विभुचित् ऐसे जीव के समक्ष प्रकाशित नहीं होते ।

प्र० – ज्ञान और विज्ञान क्या हैं?

उ० – ज्ञान का अर्थ है – 'भगवत् – ज्ञान' और विज्ञान का अर्थ है – 'परिकर वैशिष्ट्य के साथ भगवान का ज्ञान' ।

प्र० – क्या जो स्वयं को प्रिय लगता है, वही भक्ति है?

उ० – नहीं । जो कृष्ण को प्रिय लगे, वह करना ही भक्ति है । जो मुझे प्रिय लगता है वह भक्ति नहीं अपितु अन्याभिलाष है । इसलिये भोगी होने पर सुविधा नहीं होगी, त्यागी होने पर भी सुविधा नहीं होगी, भक्त होना होगा, अपनी स्वतंत्रता का परित्याग कर भगवान का आश्रय ग्रहण करना होगा एवं उनके सुख के लिये यत्न करना होगा ।

प्र० – क्या स्त्री – दर्शन करना निषिद्ध है?

उ० – संन्यासी – ब्रह्मचारी के लिये स्त्री – दर्शन करना निषिद्ध है । किन्तु यह विचार करके समस्त नारीजाति के प्रति बुरा विचार रखना बुद्धिमानी का कार्य नहीं है । भोग्यबुद्धि से नारी – दर्शन करना ही स्त्री – दर्शन है । भोगबुद्धि से स्त्रीदर्शन निन्दनीय है । यहाँ वस्तु (स्त्री) में दोष नहीं है, अपितु वस्तु के व्यवहार की वृत्ति में दोष है । जगत की विचित्रता हानिकारक अथवा दोषयुक्त नहीं है । किन्तु उस विचित्रता का असद् – व्यवहार ही निन्दनीय है । यदि जगत की विचित्रता भगवत – सेवा में नियुक्त हो, तो ऐसा होने पर वह वरणीय है ।

प्र० – मंगल का पथ क्या है?

उ० – भगवान की सेवा ही एकमात्र मंगल का पथ है । हमारे द्वारा अपने प्रत्येक पदनिक्षेप, प्रत्येक नि:श्वास – प्रश्वास, प्रत्येक कार्य को कृष्ण से सम्बन्धित करके निर्बन्ध करना ही प्रयोजन है । हम सर्वदा कृष्णसेवा के पथपर चलेंगे । हम हरि – गुरु – वैष्णवों की सेवा को छोड़कर अन्य कोई कार्य नहीं करेंगे ।

प्र० – पूर्णवस्तु क्या है?

उ० – भगवान ही पूर्णवस्तु हैं । पूर्ण के लिये ही यत्न करने की आवश्यकता है । अपूर्ण के लिये दिन व्यतीत करने पर अपूर्णवस्तु ही प्राप्त होगी, पूर्ण वस्तु प्राप्त नहीं होगी ।

प्र० – क्या प्रार्थनीय होना उचित है?

उ० – भगवान की कृपा ही हमारे लिये प्रतिक्षण प्रार्थनीय होनी उचित है । जीवमात्र का ही चरम लक्ष्य कृष्णप्रेम है ।

प्र० – जीवन्त साधु की कथा क्या अत्यन्त भक्तिप्रद होती है?

उ० – शक्तिशाली धनुर्धारी के द्वारा जिस प्रकार बाण की शक्ति प्रकाशित होती है, उसी प्रकार **जिसका जितना भक्तिबल होता है, उसकी कथा उतनी शक्तिशाली अथवा कार्यकारी होती है । इसीलिये साधारण साधु की कथा और तेजस्वी अथवा जीवन्त साधु की कथा में विशेष वैशिष्ट्य रहता है ।** जिनका सुसंस्कार प्रबल होता है, वे जीवन में इसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

प्र० – पण्डित कौन हैं?

उ० – पण्डा अर्थात् जिनकी वेद – उज्जवला (वेद के ज्ञान से उज्जवलित) बुद्धि है, ऐसे भगवद् – भजनकारी भक्त ही वास्तविक पण्डित होते हैं । **'पण्डितो बन्धमोक्षवित्'** अर्थात् किस कारणवश संसार – बन्धन होता है एवं किस उपाय से संसार से मुक्ति प्राप्त होती है,

जो इस विषय से अवगत होते हैं, वही पण्डित हैं । **'मूर्खोदेहाद्यहं – बुद्धिः'**। देहात्मबुद्धिविशिष्ट अर्थात् स्वयं को देह माननेवाले व्यक्ति ही मूर्ख हैं । ऐसे व्यक्तियों के द्वारा डिग्री लेकर पण्डित – नामधारी होने पर भी वे मूर्ख पदवाच्य हैं । जागतिक पण्डितगण केवल जड़ – शब्दों के अर्थमात्र जानते हैं । वे देहात्मबुद्धि युक्त और मायाबद्ध होने के कारण शास्त्रों का अर्थ हृदयंगम करने में असमर्थ होते हैं । श्रीमद्भागवत और वेदादि शास्त्र भगवद्वस्तु होने के कारण वह केवल भक्ति के द्वारा ही ग्राह्य अथवा अनुभवनीय हैं ।

जागतिक तथाकथित पण्डिताभिमानी व्यक्तिगण भक्तिहीन होने के कारण अहंकार में मत्त रहते हैं । ऐसे दाम्भिकगण भगवान रूपी श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों के अर्थ अथवा शास्त्रमर्म से किस प्रकार अवगत हो सकते हैं? पुतुलों का निर्माण करने वाले मिस्त्री क्या भगवान के विग्रह का दर्शन कर सकते हैं?

धन, रूप, उच्च कुल और पाण्डित्य आदि सत्पात्र में नहीं होने पर सर्वनाशकर अथवा अमंगल का कारण होते हैं । अभक्त के लिये यह सब मृत्युजनक, उद्वेगकर, संसारप्रापक और अहंकार वर्द्धक होते हैं । भक्त के लिये यह भूषण के समान होते हैं, दोषजनक अथवा अनर्थकर नहीं ।

शास्त्रार्थ और शब्दार्थ एक वस्तु नहीं हैं । शास्त्र जड़शब्द नहीं हैं, शास्त्र शब्दब्रह्म – भगवान के अवतार हैं । इसीलिये महाजनों की उक्ति है – 'भक्त्या भागवतं ग्राह्यं न बुद्धया न च टीकया ।' अर्थात् अचिन्त्य अतीन्द्रिय शास्त्र एकमात्र भक्ति के द्वारा ही भक्त के निकट अनुभव का विषय होते हैं, जागतिक पाण्डित्य के द्वारा नहीं ।

प्र० – कृष्ण सकाम – भक्त को भी भक्ति दान करते हैं, किन्तु शास्त्रों में अन्यत्र कहा गया है – 'कृष्ण यदि छुटे भक्ते भुक्ति – मुक्ति दिया । कभु भक्ति ना देन, राखेन लुकाईया ।।' अतएव इन दोनों वचनों का सामञ्जस्य क्या है?

उ० – जो कपटता करके केवल बाहर से कृष्ण भजन का अभिनयमात्र करते हैं और हृदय से कृष्ण के निकट धर्म – अर्थ – काम – मोक्ष की वाञ्छा करते हैं, 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' अर्थात् जिनकी जैसी भावना होती है, उनकी सिद्धि भी उसके अनुरूप ही होती है – इस शास्त्रवाक्य के अनुसार कृष्ण उनकी अभिलषित इन समस्त तुच्छ वस्तुओं को देकर ही उनकी वञ्चना करते हैं, ऐसे कपटी व्यक्ति अथवा कुटिलात्मा को कदापि प्रेमभक्ति नहीं देते । किन्तु जो व्यक्ति कृष्ण – भजन करते – करते अज्ञानवशत: कृष्ण के निकट विषयसुख की प्रार्थना करता है, कृष्ण कृपापरवश होकर ऐसे निष्कपट अज्ञ व्यक्ति को साधु – गुरु के निकट हरिकथा श्रवण के सुयोग द्वारा अपने माधुर्यादि से आकृष्ट करके उसकी तुच्छ वासनाओं को दूर कर देते हैं । मूल बात यह है कि कृष्ण – भजन का अभिनय करने वाले कपटी व्यक्ति को कृष्ण कदापि सुदुर्लभा प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते, उसके द्वारा वाञ्छित भुक्ति – मुक्ति देकर ही उसको विदा कर देते हैं । केवल निष्कपट भजनकारी अज्ञ व्यक्ति पर ही कृपा करके सद्गुरु के द्वारा उसे शुद्ध भक्ति अथवा प्रेमभक्ति प्रदान करते हैं ।

प्र० – दीक्षागुरु और शिक्षागुरु किसे कहते हैं? चैत्त्यगुरु का क्या कार्य है?

उ० – गुरु तीन प्रकार के होते हैं – दीक्षागुरु, शिक्षागुरु और चैत्त्यगुरु । गुरु कदापि लघु नहीं होते, गुरु ईश्वर वस्तु हैं । गुरु के प्रति लघुज्ञान करके उन्हें श्रीकृष्णचैतन्य से पृथक मानना उचित नहीं है । कृष्ण ही गुरु के रूप में जीवों की चेतनता को उद्बुद्ध करते हैं, उनका वास्तविक मंगल विधान करते हैं ।

दीक्षागुरु दिव्यज्ञान अर्थात् पूर्णवस्तु का ज्ञान प्रदान करते हैं । कृष्ण ही मेरे नित्यप्रभु हैं, मैं कृष्ण का नित्यदास हूँ – यह दिव्यज्ञान अथवा सम्बन्धज्ञान दीक्षागुरु ही प्रदान करते हैं ।

शिक्षागुरु अनर्थ-निवृत्ति का उपाय बतलाते हैं और उसके पश्चात् शुद्धभजन की शिक्षा प्रदान करते हैं । दीक्षागुरु ही अधिकांश स्थल पर शिक्षागुरु का कार्य करते हैं । बद्धजीव दीक्षागुरु और शिक्षागुरु का कार्य नहीं कर सकता । दीक्षागुरु मंत्र और भजन-उपदेश प्रदान करते हैं । शिक्षागुरु अनर्थ-निवृत्ति के पश्चात् भजन-शिक्षा प्रदान करते हैं । हृदयबिहारी अन्तर्यामी श्रीहरि ही चैत्त्यगुरु हैं ।

कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने ।
गुरु-अन्तर्यामी रूपे शिखाये आपने ।।

(श्रीचै. च. मध्य 22/47)

अर्थात् श्रीकृष्ण यदि किसी भाग्यवान् जीव पर कृपा करते हैं, तब वे साक्षात् गुरु तथा अन्तर्यामी-इन दो रूपों में स्वयं उसे शिक्षा देते हैं ।

दीक्षागुरु और शिक्षागुरु जो विचार कहते हैं, चैत्त्यगुरु उसको धारण करने की योग्यता प्रदान करते हैं । चैत्त्यगुरु दीक्षागुरु और शिक्षागुरु के उपदेश ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करते हैं । चैत्त्यगुरु की कृपा के बिना कोई भी दीक्षागुरु और शिक्षागुरु के विचार हृदयंगम नहीं कर सकता । चैत्यगुरु की कृपा अथवा सहायता के बिना महान्तगुरु की कृपा प्राप्त नहीं होती, चित्त का मालिन्य दूर नहीं होता, शिक्षा दृढ़ नहीं होती एवं श्रवणीय विषय कार्यकारी नहीं होता । भगवान श्रीगौरांगदेव ही स्वयं दीक्षागुरु के रूप में दिव्यज्ञान और शुद्धभक्ति प्रदान करते हैं, स्वयं से अभिन्न शिक्षागुरुवर्ग को जगत में भेजकर उस भक्ति का संरक्षण करते हैं एवं स्वयं ही चैत्त्यगुरु होकर सेवोन्मुख जीव के हृदय में उस दीक्षा और शिक्षा को ग्रहण करने की शक्ति सञ्चारित करते हैं ।

प्र० – किसका संसार से उद्धार होगा?

उ० – स्वयं को सौ प्रतिशत में-से सौ प्रतिशत समर्पित करने पर भगवान अवश्य उद्धार करेंगे ही । साधु-गुरु की सेवा और संग को

अपना जीवन नहीं बनाने पर शत-प्रतिशत समर्पित करने की प्रवृत्ति जागृत नहीं होती । पुनः पूर्ण समर्पित नहीं करने पर पूर्ण वस्तु भी नहीं मिलती । भगवान पूर्णवस्तु हैं, वे पूर्ण चाहते हैं । पूर्ण समर्पण करने पर ही पूर्ण की प्राप्ति होती है । जितने परिमाण में समर्पण करना, उतने ही परिमाण में प्राप्त करना ।

प्र० – कृष्णसेवक जीवों में कर्त्ताभिमान क्यों उत्पन्न होता है?

उ० – जीव कर्त्ता अथवा भोक्ता नहीं है, यह सत्य है किन्तु कृष्णस्मृति के अभाव में जीवों में अहंकार धर्म प्रबल हो जाता है, तभी उनमें 'मैं कर्त्ता हूँ' – यह बुद्धि उदित होती है ।

जिस क्षण भगवत्सेवक जीव भगवत्सेवा का विचार भूल जायेगा, उसी क्षण माया उपस्थित होकर उसे ग्रास कर लेगी । सभी वस्तुओं में भगवत्सम्बन्ध नहीं देखने पर कर्त्तृत्वाभिमान के कारण जीव विपथगामी होगा और तभी वह कर्त्ता के रूप में सजकर जड़ की सेवा अर्थात् माया की सेवा करने के लिये व्यस्त होकर दुःख पायेगा । भक्त निरन्तर भगवान की सेवा करते हैं, उनमें सेवक – अभिमान प्रबल होता है किन्तु अभक्त जड़ की सेवा करके प्रभु के रूप में सजकर उद्वेग ही पाता है । जिनका दिव्यज्ञान उदित नहीं हुआ है, वही प्रभु के रूप में सजकर सेवा ग्रहण करते हैं । किन्तु कर्त्ता अथवा प्रभु नहीं होकर, जो भगवद्भक्तों की सेवा करते हैं, वे ही धन्य हैं ।

प्र० – क्या बहुत दिनों तक बचे रहना अच्छा है?

उ० – हरिभजन करने पर बचे रहना अच्छा है किन्तु जो हरिभजन नहीं करते, उनका जीवित रहकर दौरात्म्य करने की अपेक्षा मृत्यु को प्राप्त हो जाना ही अच्छा है । यदि मनुष्य और देवता श्रीहरि की उपासना नहीं करते, तो वे केवल जगतजञ्जाल ही आनयन करते हैं । जो कृष्ण देवताओं के भी उपास्य हैं, वे मनुष्यों के भी उपास्य हैं । अतः अन्य

देवताओं की उपासना नहीं करके सर्वेश्वरेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की उपासना करने पर ही सभी की उपासना हो जाती है ।

प्र० – संसार में किस प्रकार रहना होगा?

उ० – जिस प्रकार एक व्यक्ति को बाँधकर दण्ड देने पर, उसे बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ता है, किन्तु दण्ड स्वीकार करना उसकी इच्छा नहीं है, उसी प्रकार इस संसार का गहर्ण करते हुए इसे ग्रहण करना होगा, अन्यथा विपद और दुःख अनिवार्य हैं ।

प्र० – हम कर्त्ता क्यों बन जाते हैं?

उ० – यह दुर्भाग्य का परिचय है । जीव तो ईश्वर नहीं है, जो वह कर्त्ता होगा? कर्त्ता एकमात्र श्रीकृष्ण हैं । हम सभी उन श्रीकृष्ण के नित्य सेवक हैं । किन्तु हम यह बात भूलकर गृह के कर्त्ता, मोहल्ले के स्वामी, ग्राम के नेता, देश के प्रभु अथवा जगत के ईश्वर होना चाहते हैं, ऐसा हमारा दुर्दैव है ।

प्र० – मन्त्र किसे कहते हैं?

उ० – जो वस्तु विषय से, भोग्य – दर्शन से हमारा उद्धार कर सकती है, वही मंत्र है । मंत्र सिद्धि होने पर मनोधर्म से त्राण हो जाता है । दम्भ का परित्याग नहीं करने पर गुरुसेवा, कृष्णसेवा कुछ नहीं होगी, स्वतंत्रता ही दम्भ है ।

प्र० – अधःपतन क्यों होता है?

उ० – यदि किसी प्रकार का दम्भ आकर उपस्थित हो, तो ऐसा होने पर श्रीगुरुपादपद्म के निर्देश पालन अथवा मनोऽभीष्ट सेवा तो कर ही नहीं पाऊँगा अपितु अधःपतन उपस्थित होगा । मनुष्य के अधःपतन से पूर्व अश्रद्धा नामक एक वस्तु आती है । यदि साधुगुरु के प्रति श्रद्धा हो, तभी मंगल है, अन्यथा सर्वनाश हो जायेगा, संस्पृहा वर्द्धित हो जायेगी । मैं भगवान का दर्शन प्राप्त कर लूँगा, यह दुर्बुद्धि, दम्भ, मापाबुद्धि अथवा भोगबुद्धि है । **श्रीविग्रह मुझे देख रहें हैं, यही**

श्रीविग्रह – दर्शन है । इसीलिये कान देकर ठाकुरजी का दर्शन करना होता है । दैन्यार्त्ति लेकर, ठाकुरजी की कृपादृष्टि प्राप्ति के लिये ठाकुरजी के सुख के लिये ठाकुरजी के निकट जाना होता है, तभी मंगल होगा । भोग और त्याग के प्रति श्रद्धा नहीं रहने का अर्थ है, भगवान के प्रति श्रद्धा । श्रद्धा यदि विश्व और विश्ववासियों के प्रति हो, तो ऐसा होने पर वह भोग हुआ । विषय मेरे भोग्य होंगे, यह बुद्धि ही दीक्षा अथवा दिव्यज्ञान का अभाव है । मैं कौन हूँ, यदि यह विचार हृदय में उपस्थित नहीं हो, मेरे नित्य आराध्य के साथ यदि मेरा सम्बन्धज्ञान उदित नहीं हो, तो ऐसा होने पर श्रद्धा और शरणागति किस प्रकार आयेगी? यदि श्रद्धा नहीं हो, तो ऐसा होने पर साधुदर्शन अथवा भगवद्दर्शन नहीं होता, ईर्ष्या, हिंसा अथवा समालोचना की प्रवृत्ति उपस्थित होती है ।

प्र० – हमने आजतक जो शिक्षा प्राप्त की है, वह किस प्रकार दूरीभूत होगी?

उ० – हमने बाल्यकाल से जो शिक्षा ग्रहण की है, वह सब जागतिक शिक्षा, सामयिक शिक्षा, संसार में रहने की शिक्षा है । परमार्थ – शिक्षा के हृदय में स्थान प्राप्त करने पर ही इन सभी शिक्षाओं का तुच्छत्व सहज रूप में ही अनुभव होता है ।

मैं भगवत्सेवक हूँ, मैं सेव्य नहीं हूँ, मैं सेवक हूँ, सेवा ही करूँगा, सेवा छोड़कर मैं और कुछ नहीं करूँगा, यदि यह सुबुद्धि उत्पन्न हो, तो ऐसा होने पर जो सभी दुर्बुद्धि, जड़बुद्धि अथवा शिक्षाएँ माता – पिता अथवा लौकिक आत्मीयस्वजनों के निकट प्राप्त की हैं, वह दूरीभूत हो सकती हैं । ऐसा नहीं होने पर इस प्रकार की दुर्बुद्धि और पुष्ट हो जाती है ।

भगवान ही एकमात्र भोक्ता और कर्त्ता हैं, यह बात भूलने पर संसार हो जायेगा । भगवत – सेवोन्मुख व्यक्तियों का ही संसार क्षय होता

है और भगवद्विमुख व्यक्तियों का ही संसार वर्द्धित होता है । जिनका संसार बढ़ रहा है, उनकी भगवद्सेवा करने की इच्छा नहीं होती, भगवद्सेवा के विचारों को सुनना अच्छा नहीं लगता, भगवद्कथा सुनने का उन्हें समय नहीं मिलता । यद्यपि वे कभी-कभी सुनने का अभिनय करते हैं किन्तु वह भी अपने अनुसार ही करते हैं । उनके मन के अनुरूप कथा नहीं होने पर वे उन विचारों को छोड़ देते हैं । हरिसेवा के विचारों को वे प्राधान्य नहीं देते, उनका विचार होता है-'Present-day-need ही अधिक आवश्यक है' । 'भगवान क्या वस्तु हैं?' यदि यह जानना हो तो भगवान के भक्तों के निकट जाना होगा । इसके अतिरिक्त भगवान को जानने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

प्र० – क्या प्रतिमा – दर्शन ही भगवद्दर्शन हैं?

उ० – भगवान में देह-देही का भेद नहीं है । मेरे हृदयदेवता मुझ पर कृपा करने के लिये, मुझे सेवा का सुयोग प्रदान करने के लिये विश्व में अवतीर्ण हुए हैं । परतत्त्व के प्रति अर्च्चाबुद्धि, प्रतिमाबुद्धि अथवा शिलाबुद्धि रहने पर परतत्त्वबुद्धि, ईष्टदेवबुद्धि अथवा भगवद्दर्शन नहीं हुआ । अर्च्चा-विग्रह को साक्षात् भगवान के रूप में नहीं देखने पर यदि अर्च्चा-विग्रह के रूप में ही देखता रहूँ, तो मंगल नहीं हुआ । भगवान श्रीगौरांगदेव, श्रीजगन्नाथदेव का श्यामसुन्दर-मुरलीवदन के रूप में दर्शन करते थे, वह अर्च्चा-विग्रह अथवा प्रतिमा का दर्शन नहीं करते थे अपितु साक्षात् परतत्त्व दर्शन करते थे । श्रीमन्महाप्रभु का विचार था-**'प्रतिमा नहे तुमि साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन ।'** अर्थात् आप प्रतिमा नहीं अपितु साक्षात् ब्रजेन्द्रनन्दन हैं ।

प्र० – क्या व्यर्थकथा अथवा ग्राम्यकथा बोलना अमंगल जनक है?

उ० – निश्चय ही । भोग्यप्रसंग अथवा ग्राम्यप्रसंग से संसार होता है और सेव्यप्रसंग, भगवत्प्रसंग से कृष्णेन्द्रियतर्पण अथवा भक्ति होती

है । हरिप्रसंग नहीं होने पर ही भोग्यप्रसंग हो जायेगा । जगत के लोग सब समय व्यर्थकथा-ग्राम्यकथा बोलते हैं और बोलेंगे । उन समस्त कथाओं के प्रति उदासीन रहकर हरिनाम करना होगा । अन्यथा हमें भी उनमें से एकजन बनना पड़ेगा । इसीलिये श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है- **'ग्राम्यकथा ना शुनिबे, ग्राम्यवार्त्ता ना कहिबे'** (अर्थात् ग्राम्यकथा नहीं सुनना और ग्राम्यकथा नहीं कहना ।)

प्र० – क्या सभी को कीर्त्तन करना होगा?

उ० - कीर्त्तन सभी को करना होगा । हरिनामकीर्त्तन और हरिकथा - कीर्त्तन ही जीव का नित्यधर्म है । श्रुत विषय का कीर्त्तन करके पहले स्वयं को वह समस्त विचार सुनाने होंगे । दूसरे लोग उन्हें सुनते हैं, तो सुने उससे आपत्ति नहीं है किन्तु स्वयं आचरण करने की विशेष आवश्यकता है ।

प्र० – क्या सभी भक्त ही श्रीमन्दिर में जाकर भोग देते हैं?

उ० - सद्गुरु के चरणाश्रित कनिष्ठाधिकारी भक्त गुरु के आनुगत्य में श्रीविग्रह के निकट जाकर नैवेद्य देकर मंत्र पढ़ते हुए ठाकुरजी को भोग देते हैं । मुक्तपुरुष भी मन्दिर में प्रीतिपूर्वक भोग देते हैं । मध्यमभक्त सब समय अर्च्चा - विग्रह के निकट नैवेद्य नहीं ले जाकर कभी - कभी पृथक भाव से स्वयं ही अपने हृदयदेवता को भोग देते हैं एवं बाद में उस प्रसाद को ग्रहण करते हैं और महाभागवतों के विचारानुसार उनके निकट जो भी वस्तु आती है, वह सभी भगवान ने ग्रहण करके उनके निकट अपना उच्छिष्ट भेजा है । वह प्रत्येक वस्तु में भगवद्भाव दर्शन करते हैं । यह बात सुनकर कोई यह नहीं समझे कि महाभागवत श्रीमन्दिर में भोग नहीं देते । श्रीराघव पण्डित, श्रीगौरीदास पण्डित, श्रीरघुनन्दन ठाकुर, श्रीमाधवेन्द्र पुरी आदि सभी महाभागवतों ने ठाकुरजी को श्रीमन्दिर में प्रीतिपूर्वक भोग दिया है । अर्च्चा - विग्रह मुझ

अनर्थयुक्त के साथ बातचीत नहीं करते किन्तु भक्त के साथ बातचीत करते हैं, उनके सामने प्रसाद ग्रहण करते हैं ।

प्र० – क्या भगवद्दर्शन इन नेत्रों से होता है?

उ० – जगन्नाथ और जगत एक नहीं हैं । दिव्यज्ञान अथवा दिव्यचक्षु प्राप्त नहीं होने पर जगन्नाथ दर्शन नहीं होता । मैं अब नेत्रों से देख नहीं पाता किन्तु चश्मा लगाकर देखता हूँ । उसी प्रकार इन नेत्रों से जगन्नाथ दर्शन नहीं होगा । गुरुप्रदत्त ज्ञानचक्षु अथवा भक्तिनेत्रों से ही, गुरुकृपा की सहायता से ही जगन्नाथ दर्शन होता है । कान देकर दिव्यज्ञान प्राप्त करके जगन्नाथ दर्शन करना होगा ।

प्र० – क्या सेवा अपने हाथों से ही करना उचित है?

उ० – पुरोहित अथवा प्रतिनिधि के द्वारा भगवत्सेवा कार्य नहीं होता । इसीलिये सभी के लिये प्रीतिपूर्वक अपने हाथों से भगवत्सेवा करना कर्त्तव्य है ।

प्र० – किस वस्तु के प्रति आसक्ति होने पर मंगल होगा?

उ० – जगत के प्रति, जगतवासियों के प्रति आसक्ति बन्धन और दुःख का कारण होती है । इसीलिये आसक्ति की direction घुमाने की आवश्यकता है । The Great Attractor के साथ बन्धन होना प्रयोजनीय है, तभी मंगल होगा ।

प्र० – क्या गुरु कृपा के बिना कुछ नहीं होगा?

उ० – नहीं । मैं अज्ञानान्ध हूँ, गुरु के अतिरिक्त मुझे और कौन पथ दिखलायेगा? कौन मुझे ज्ञान देगा? गुरुकृपा से ही सब प्राप्त होगा । हम लघु हैं, हमारे एकमात्र आश्रय हैं – श्रीगुरुदेव । जो सब प्रकार से सर्वक्षण भगवान की सेवा करते हैं, वही श्रीगुरुदेव हैं । श्रीगुरुदेव आश्रयजातीय कृष्ण हैं । उन्हीं श्रीगुरु के प्रति ईश्वरबुद्धि होने पर ही हमारा मंगल होगा ।

प्र० – क्या स्त्रीसंग करना अनुचित है?

उ० – निश्चय ही । स्त्री – सम्बन्धी पाप आचरण नहीं करना चाहिये । वैरागीगण तो स्त्रीसंग कदापि नहीं करेंगे एवं गृहस्थ होकर भी अत्यन्त कामप्रवृत्ति उचित नहीं है । जो कृष्ण को भूलकर संसार करेंगे और छलधर्म ग्रहण करेंगे, वे गृहव्रत हैं । गृहस्थ – अभिमान करके अन्य विचार आने पर वह अधर्म होगा । श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है –

असत्संग त्याग – एई वैष्णव – आचार ।
स्त्री संगी – एक असाधु, कृष्णाभक्त आर ।।

प्र० – भगवद्पादपद्म में हमारी मति क्यों नहीं होती?

उ० – भाग्य और सुसंस्कार नहीं होने पर भगवान के प्रति मति किस प्रकार होगी क्या सभी को व्यवसाय, नौकरी अथवा अंक अच्छा लगता है? जिनके कर्मसंस्कार होते हैं, उनकी कर्म में रुचि होती है जिनके भक्तिसंस्कार होते हैं, उनकी भक्ति में रुचि होती है । भक्ति में रुचि नहीं होना ही दुर्भाग्य का परिचय है । भगवान सेव्य वस्तु, अतीन्द्रिय वस्तु हैं । वे जड़ – इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं हैं । भगवान सेवोन्मुख इन्द्रियों में प्रकाशित होते हैं । आरोहपन्था के द्वारा कोई उनकी कृपा प्राप्त नहीं कर सकता ।

प्र० – हमारे भीतर (भगवान के प्रति) उन्मुखता क्यों नहीं आती?

उ० – एक तो संस्कार नहीं होने के कारण और दूसरा उसके लिये यत्न नहीं होने के कारण । इसीलिये सद्वैद्य की आवश्यकता है । सत्संग करने पर उन्मुखता आती है । जिस प्रकार veterinary surgeon (पशुचिकित्सक) पशु के मुख को कौशल के द्वारा फाँक करके औषधि का प्रयोग करता है, श्रीगुरुपादपद्म अथवा साधुवैद्य भी उसी प्रकार हमारे ऊपर कृपा करते हैं । हमारी अनिच्छा होने पर भी वे हमारे मुख में बलपूर्वक भक्तिरस डाल देते हैं । श्रीगुरुदेव का यह कार्य परम दया का

परिचय है । उनकी दया की सीमा नहीं है । कृष्णप्रेम प्रदान करना ही श्रीगुरुदेव की दया है । हम अपना मंगल नहीं चाहेंगे किन्तु श्रीमन्महाप्रभु बलपूर्वक हमें हमारे नित्यमंगल की कथा सुना रहे हैं । मानवजाति के ऊपर श्रीचैतन्यदेव ने किस अपार करुणा का प्रदर्शन किया है, श्रीकृष्ण से अवगत कराकर अचेतन विश्व को किस प्रकार चेतन किया है यह एकबार विश्ववासियों की चिन्ता का विषय हो, ऐसा होने पर ही मंगल होगा ।

प्र० – हमारे भीतर भगवान को पुकारने की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती? संसारकूप में ही पड़े रहने की इच्छा क्यों होती है?

उ० – मनुष्य चेतन है । उसमें ग्रहण करने अथवा नहीं करने की स्वतंत्रता है । ग्रहण करने की चित्तवृत्ति नहीं होने पर, वह वन में रोदन करने के समान होगा । हृदय के साथ भगवान को पुकारने पर अवश्य ही उनकी कृपा होगी । चेतन Initiative ले सकता है । अचेतन में स्वतंत्रता नहीं होती । चेतन और अचेतन के स्वामी ईश्वर हैं । चेतन के पास स्वतंत्रता रूपी एक रत्न है । किन्तु भगवान सर्वतंत्रस्वतंत्र हैं, जीव की स्वतंत्रता उनकी इच्छापरतंत्र है । जीव स्वतंत्रता का सद्व्यवहार भी कर सकता है और असद्व्यवहार भी कर सकता है । यदि ईश्वर चेतन को बाध्य कर दें, तो चेतन को नष्ट करना हो जायेगा । तभी चेतन की स्वतंत्रता के ऊपर हस्तक्षेप नहीं करके भगवान चेतन की स्वाभाविक वृत्ति को उन्मेषित करना चाहते हैं ।

जीवात्मा सृष्ट वस्तु नहीं है, वह नित्य सनातन वस्तु है । भगवान साधु – गुरु – शास्त्र के रूप में अवतीर्ण होकर जीव को शुद्ध चेतन धर्म में उद्बुद्ध करने का यत्न करते हैं ।

यह जगत हमारा नित्यवास स्थान नहीं है । शास्त्र कहते हैं –

साधुशास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय ।
सेई जीव निस्तरे माया ताहारे छाड़य ।।

मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृति ज्ञान ।
जीवेर कृपाय कैल कृष्ण वेदपुराण ।।
शास्त्र – गुरु – आत्मरूपे आपनारे जानान ।
कृष्णमोर प्रभु, भ्राता – जीवेर हय ज्ञान ।।
नित्यबद्ध – कृष्ण हैते नित्यबहिर्मुख ।
नित्यसंसार, भुञ्जे नरकादिदुःख ।।
सेई दोषे माया – पिशाची दण्ड करे तारे ।
आध्यात्मिक तापत्रय तारे जारि' मारे ।।
काम – क्रोधेर दास हञा तार लाथि खाय ।
भ्रमिते – भ्रमिते यदि साधुवैद्य पाय ।।
ताँर उपदेश – मंत्रे पिशाची पलाय ।
कृष्णभक्ति पाय, तबे कृष्ण निकट जाय ।।
कृष्णनित्यदास जीव ताहा भूलि गेल ।
एई दोषे माया तार गलाय बाँधिल ।।
ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन ।
माया जाल छुटे, पाय कृष्णेर चरण ।।

अर्थात् साधु और शास्त्र की कृपा से यदि कोई जीव कृष्ण के प्रति उन्मुख होता है, तो माया उसे छोड़ देती है और तब वह जीव भवसागर को अनायास ही पार कर लेता है । मायामुग्ध जीवों को कृष्ण की स्मृति नहीं होती क्योंकि वे कृष्ण से विमुख होते हैं, ऐसे विमुख जीवों पर कृपा करने के लिये श्रीकृष्ण ने वेद और पुराण आदि शास्त्रों को प्रकाशित किया है । जब कृष्ण शास्त्र, गुरु और चैत्त्यगुरु के रूप में जीव के निकट अपना तत्त्व प्रकाशित करते हैं, तब जीव को यह ज्ञान होता है कि कृष्ण ही मेरे प्रभु-बन्धु हैं । नित्य संसारी जीव अनादिकाल से कृष्ण से बहिर्मुख होकर संसार में आकर नरकादि दुःखों का भोग कर रहे हैं, कृष्ण से बहिर्मुख होने के कारण माया इन जीवों को आध्यात्मिकादि

तीन तापों से निरन्तर पीड़ित करती रहती है । काम-क्रोध का दास होकर जीव निरन्तर उनकी लात खाता है, इस प्रकार भ्रमण करते-करते भाग्यक्रम से जब किसी जीव का साधु रूपी वैद्य से साक्षात्कार होता है, तो उनके उपदेश मंत्र से माया पिशाची उस जीव को छोड़कर भाग जाती है, तब वह जीव कृष्णभक्ति प्राप्त करके कृष्ण के निकट गमन करता है । जीव कृष्ण का नित्य दास है किन्तु कृष्ण-दासत्व की विस्मृति रूपी दोष के कारण माया ने उसका गला बाँध दिया । किन्तु कृष्ण का भजन और गुरुदेव की सेवा करते-करते, जीव इस मायाजाल से छूटकर कृष्ण के चरणों को प्राप्त कर लेता है । (श्रीचैतन्यचरितामृत)

प्र० – हम इस जगत में क्यों आये?

उ० – कृष्ण को भूलकर हम इस जगत में पतित हुए हैं । यह planet suited for our purpose है । सूर्य के साथ proper adjustment नहीं होने पर यदि उसके निकट जायें, तो जलकर मरना होगा । मैं अणुचित् जीवात्मा हूँ, मुझे अपनी ओर आकर्षित करने के लिये, जो विभूचित् भगवान कृपा करके सार्द्धत्रिहस्त परिमित (साढ़े तीन हाथ का) अवयव (शरीर) धारण करते हैं, उनके साथ adjust होने का विचार होने पर ही मंगल है अन्यथा मैं Initiative लेने की इच्छाकर, जो ब्रह्म होने का विचार ग्रहण करता हूँ, उससे कदापि मंगल नहीं हो सकता । भगवान को disturb नहीं करके यदि properly adjust हो सकूँ, अनुकूल अनुशीलन कर सकूँ, तब उनकी कृपा प्राप्ति सम्भव होगी ।

कर्मी, ज्ञानी आदि में intellectualism प्रबल होता है । स्वयं को प्रधानता देने पर कर्म-ज्ञानवाद होगा और भगवान को प्रधानता देने पर भक्ति होगी ।

शास्त्र कहते हैं –

कृष्ण भूलि सेई जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख ।।

अर्थात् जीव कृष्ण को भूलकर अनादि काल से उनसे बहिर्मुख है, इसी दोष के कारण माया उसे संसारादि दुःख-क्लेश देती है ।

प्र० – भक्ति के विचारों को सभी लोग क्यों नहीं समझ पाते?

उ० - Extra ordinary (असाधारण) नहीं होने पर भक्ति के विचार किस प्रकार समझ आयेंगे? Ordinary merit (साधारण योग्यता) भुक्ति-मुक्ति के विचारों को लेकर ही व्यस्त है । आचारवान् होना आवश्यक है । स्वयं आचरण करने पर ही दूसरों को आचार में प्रतिष्ठित किया जा सकता है ।

प्र० – प्रत्यक्ष, परोक्ष, अपरोक्ष और अधोक्षज किसे कहते हैं?

उ० - मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा जो देखता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । दूसरों की इन्द्रियों के द्वारा जिसे प्रत्यक्ष करता है, जिसमें प्रत्यय-स्थापन किया जाता है, उसे परोक्ष कहते हैं । जो प्रत्यक्ष भी नहीं है और परोक्ष भी नहीं है, जो Tabula rasa, Absolute ब्रह्म आदि शब्दों के द्वारा उद्दिष्ट हुआ है, उसे अपरोक्ष कहते हैं । निर्विशेषवाद ही अपरोक्ष विचार की शेष सीमा है । अपरोक्षवादी जिसे Absolute कहते हैं, हमारे Absolute वैसे नहीं हैं । हमारे Absolute वंशीवदन श्यामसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन हैं । श्रीमद्भागवत में अधोक्षज शब्द के द्वारा उसी Absolute को ही निर्द्दिष्ट किया गया है । प्रत्यक्ष, परोक्ष और अपरोक्ष का अतिक्रम करके अधोक्षज भूमिका में अधोक्षज की सेवा करनी होगी, वे ही सेव्यवस्तु हैं । अधोक्षज सर्वतन्त्रस्वतंत्र स्वतःकर्त्तृत्वधर्मविशिष्ट हैं । अधोक्षज Initiative ले सकते हैं । अधोक्षज के साथ बनियागिरि नहीं चलेगी, छल नहीं चलेगा क्योंकि वे सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ हैं । वे मनुष्य के range of vision में नहीं आते ।

प्र० – क्या कर्म और ज्ञान आत्मधर्म हैं?

उ० – नहीं! ज्ञान और कर्म, अनात्मधर्म हैं । कर्म में नश्वर फलभोगवाद होता है और ज्ञान में त्याग की बाहादुरी लेकर केवलाद्वैतवाद के आश्रय में स्वगत – सजातीय – विजातीय भेद रहित होकर निर्भेदब्रह्म के अनुसन्धान की चेष्टा में आत्मविनाश वरण करना होगा ।

भोगी और त्यागी both are mistaken and misguided । कर्म और ज्ञान दोनों ही ठग हैं । उनके हाथों से परित्राण पाना आवश्यक है । Too much affinity (अत्यधिक आसक्ति) होने पर अधिक depression होगा, इसीलिये अनासक्त भाव से संसार करने की आवश्यकता है । विचारसंगत process neglect करने पर मरना होगा ।

प्र० – परा – शान्ति की प्राप्ति का उपाय क्या है?

उ० – जीव देह में आत्मबुद्धि करके जड़ के साथ सम्बन्धविशिष्ट होकर नानाप्रकार से दु:ख यन्त्रणा भोग करता है । इससे उद्धार पाने के लिये कोई कहता है कि मन ही सुख – दु:ख का भोक्ता है । अत: चित्तवृत्ति का निरोध करके प्रकृति में लीन होकर निर्वाण प्राप्त करने पर और कोई दु:ख नहीं रहेगा । पुन: कोई कहता है कि मैं ब्रह्म हूँ, वर्त्तमान में माया के साथ विजड़ित होकर मुझे यह दु:ख – कष्ट भोग करना पड़ रहा है, पुन: माया से मुक्त होकर ब्रह्मानुभूति होने पर ही मुझे ज्ञान प्राप्त होगा, तब और दु:ख – कष्ट नहीं रहेंगे । किन्तु इनमें से कोई भी पराशन्ति का सन्धान नहीं दे पाता । कारण, प्रथम मत में जिस पथ को ग्रहण करने के विषय में कहा गया है, उससे केवल मन की क्रियामात्र स्तब्ध होगी, किन्तु उससे जीव को कोई बोध नहीं रहता, चेतन का कोई विचार नहीं रहेगा । द्वितीय मत में यद्यपि चेतन का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, तथापि उससे परिणाम में ज्ञाता – ज्ञेय की पृथक सत्ता स्वीकृत नहीं होने के कारण ज्ञान की सम्भावना नहीं है । जड़ के साथ

सम्बन्धरहित होने का प्रयोजन पूर्ण होने पर भी पूर्णचेतन भगवान के साथ सम्बन्धविशिष्ट नहीं होने पर अणुचेतन जीव को पराशान्ति की प्राप्ति नहीं होती ।

भगवद्भक्त के साथ रहकर उनकी कृपा से दिव्यज्ञान अथवा सम्बन्धज्ञान प्राप्त होता है । साधुसंग, नामकीर्त्तन, भागवतश्रवण, श्रीमूर्त्ति की श्रद्धापूर्वक सेवा के द्वारा जीव का मंगल होता है । हम भगवान के सेवक हैं, उनकी सेवा ही हमारा कृत्य है । इसीलिये हमें भगवान की सेवा की ओर अग्रसर होना होगा, भगवद्सेवा को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य करना होगा, तभी वास्तविक शान्ति प्राप्त होगी, अन्यथा नहीं ।

प्र० – क्या करने पर मंगल होगा?

उ० – परम श्रद्धा के साथ गुरुसेवा करने पर निश्चय ही मंगल होगा । दुःखमय जगत में केवल कष्ट पाने के लिये ही मनुष्य की समस्त चेष्टाएँ हैं । भगवद्सेवा विमुख के लिये माया का यही विधान है । जो जगत सौख्य में व्यस्त होते हैं, वे अपना अमंगल वरण करते हैं । सेवा – विमुखता क्रम में मुनष्य में यह विचार आते हैं । अपने सुख के लिये यत्न करना ही दुःख का कारण है, यह विचार मनुष्य समझ नहीं पाता । चौदह भुवन अमंगल की भूमिका हैं । दुर्भाग्यवशतः वर्त्तमान में – 'मैं कर्त्ता हूँ', हमारे भीतर यह अभिमान प्रबल है । इस विचार से किस प्रकार निस्तार होगा । गुरुपादपद्म का आश्रय करके भगवद्सेवा करनी होगी । हम रिपुओं के वशीभूत होकर विश्वदर्शन में व्यस्त हो रहे हैं, इससे उद्धार का उपाय है – गुरुपादपद्म की सेवा । जो विश्वदर्शन करते हैं, वे भोगी हैं ।

प्रत्येक इन्द्रिय हृषीकेश की सेवा में नियुक्त नहीं होने पर बुभुक्षा (भोग की इच्छा) द्वारा अमंगल ही वरण करना होगा । 'कृष्ण किस प्रकार संतुष्ट होंगे?' – वह विचार भोगी नहीं करता । विश्वदर्शनकारी भोगी अपने सुखभोग और आत्मीयस्वजनों के सन्तोष विधान को लेकर

ही व्यस्त रहते हैं । भोगी समदर्शी नहीं, विषमदर्शी, विश्वदर्शी अथवा भोग्यदर्शन में व्यस्त हैं । हम वर्त्तमान में सेवाविमुख होकर इस जगत में आये हैं । सभी मेरा इन्द्रिय तर्पण करें, हमारा यह विचार प्रबल है । कोई यदि मेरे इन्द्रियतर्पण में व्याघात करता है तो वह व्यक्ति कोई ठीक नहीं है । इस दुर्गति के हाथ से उद्धार पाने का उपाय है – श्रीगुरुपादपद्म का आश्रय ।

प्र० – अर्चन और कीर्त्तन में क्या वैशिष्ट्य है?

उ० – अर्चन के द्वारा अपना मंगल होता है और कीर्त्तन के द्वारा अपने साथ दूसरों का भी मंगल होता है । अर्चन स्वयं किया जाता है, उसे दूसरे नहीं देखते किन्तु कीर्त्तन दूसरों के कानों में भी गूँजता है, जिसे श्रवण करके श्रीगुरुदेव अथवा भक्तगण हमारी त्रुटियों का संशोधन कर देते हैं, जिससे कीर्त्तनकारी का शीघ्र ही मंगल होता है । इसके फलस्वरूप कीर्त्तन प्राणमय, आचारमय और शुद्ध हो जाता है ।

प्र० – शुद्धनाम कब होता है?

उ० – जड़ की चिन्ता रहने पर शुद्धनाम नहीं होगा । सेवोन्मुख नहीं होने पर, कृष्णोन्मुखी नहीं होने पर, कृष्णनाम किस प्रकार होगा? जो भोगी हैं, जो कपटता करते हैं, जो शठता करते हैं, उनके मुख में हरिनाम नहीं होता । नाम और नामी अभिन्न हैं, जिनमें यह विचार नहीं है, उनके नाम में बाधा होगी । सेवोन्मुख होने पर नाम आरम्भ होता है । नाम साक्षात् भगवान हैं – यह स्मृतिपथ पर नहीं होने पर नाम किस प्रकार होगा? बहिर्जगत का चिन्तास्त्रोत प्रबल रहने पर वैकुण्ठनाम नहीं होता । मन चिन्मय अथवा शुद्ध नहीं होने पर हरिनाम नहीं होगा । जिनका विश्वदर्शन, भोग्यदर्शन ध्वंस हो गया है, उनका ही निरन्तर हरिनाम होता है । वासनाओं के दास होने के कारण ही हम इतने दुःखी हैं । अनित्य प्रार्थना अथवा कामनाएँ प्रबल होने पर कामनाओं के दास होकर भूत – प्रेत बनना पड़ेगा । गुरु – कृष्ण की सेवा के द्वारा चित्त

निर्मल होने पर ही उस शुद्धचित्त में शुद्धनाम उदित होंगे अन्यथा नामापराध होगा ।

प्र० – भगवान हमसे क्या चाहते हैं?

उ० – भगवान और कुछ नहीं चाहते, Submission (शरणागति) मात्र चाहते हैं । भगवद् – अनुशीलन करने की आवश्यकता है । सामर्थ्य नहीं रहने पर जो उनका अनुशीलन करते हैं, हमें उनकी सहायता की आवश्यकता है अन्यथा विपरीत दिशा में गति होगी । जड़ जगत की सेवा करने पर कृष्ण सेवा नहीं होगी, हमें यह विचार स्मरण रखने की आवश्यकता है । जीवन्मृत अथवा बहिर्मुख व्यक्ति भगवान की सेवा का सौभाग्य नहीं प्राप्त कर सकते । जिनमें प्राण हैं, उन्हें ही सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त होता है । सेवोन्मुख व्यक्ति ही जीवन्त है । शोक – मोह – भय पग – पग पर हैं, इन तीनों दस्युओं के हाथ से उद्धार का एकमात्र उपाय अधोक्षज की भक्ति है । श्रीमूर्त्ति अधोक्षज वस्तु हैं । वे लकड़ी, मिट्टी, पत्थर नहीं हैं ।

प्र० – अनर्थ क्या हैं?

उ० – अर्थ है – वास्तव वस्तु भगवान श्रीहरि और उनके विपरीत हुआ अनर्थ । माया ही अनर्थ है । वह वस्तुप्रतीत होने पर भी वस्तु नहीं है । अनर्थ अर्थ की प्राप्ति में बाधा है, उसका अतिक्रम करना होगा ।

प्र० – क्या श्रीगुरुपादपद्म ब्रह्मवस्तु अथवा बृहद्वस्तु हैं?

उ० – हम लघु से भी लघु, उसकी अपेक्षा भी लघु हैं और श्रीगुरुपादपद्म बृहद् से भी बृहद्, उसकी अपेक्षा भी बृहद् हैं । श्रीगुरुपादपद्म बृहद् की सेवा करते हैं, बृहद् वस्तु उनकी सेवा के वशीभूत रहती है । जो मधुर रति से कृष्णभजन करते हैं, वे गुरुपादपद्म को अभिन्नवार्षभानवी के रूप में ही जानते हैं । जो वात्सल्य रस के प्रार्थी हैं, वे श्रीगुरुपादपद्म को नन्द – यशोदा के प्रकाश विशेष के रूप में जानते हैं । जो सख्यरस के प्रार्थी हैं, वे गुरुदेव को श्रीदाम – सुदाम आदि कृष्णसखा और उनके

प्रभु नित्यानन्द के प्रकाश विशेष के रूप में जानते हैं । जो दास्यरस के सेवक हैं, वे गुरुदेव को रक्तक, पत्रक, चित्रकादि नन्द के दासों के प्रकाश विशेष के रूप में ही जानते हैं ।

श्रीगुरुपादपद्म आश्रयजातीय ब्रह्मवस्तु, आश्रयवस्तु हैं । कोई यह नहीं समझे कि वे मूल आश्रयविग्रह अथवा विषयविग्रह हैं । अनर्थयुक्त अवस्था में और अनर्थमुक्त अवस्था में गुरुदेव में दर्शनभेद है । श्रीगुरुदेव जिस प्रकार सेवा करते हैं, उनके आश्रित हमें भी उसी प्रकार सेवा करनी होगी । मैं एक दिशा में चल रहा हूँ और गुरुपादपद्म की इच्छा अन्य प्रकार है, तो ऐसा होने पर वह अभक्ति हो गयी ।

विश्व दर्शन ही संसार है । समदर्शी श्रीगुरुदेव की कृपा से यह कुदर्शन नष्ट होगा । भक्तगण जगत को कृष्णभोग्य अर्थात् कृष्ण सेवा के उपकरण के रूप में जानते हैं । हृदय जब विषय वासनाओं से रहित हो जाता है, तब परम असुविधाएँ भी सुविधा प्रतीत होती हैं, सबकुछ कृष्ण कृपा के रूप में ही अनुभव होता है । श्रीगुरुदेव मेरे समान ही नाना प्रकार की असम्पूर्णता और दोषों से युक्त हैं अथवा वे दुष्ट और अनभिज्ञ मर्त्य जीव हैं अथवा मेरी अपेक्षा वे किञ्चित श्रेष्ठ हैं – यह सब विचार आने पर मैं विश्व का प्रभु हो गया और मेरा सर्वनाश हो गया । गुरु तो जीवनस्वरूप हैं । सद्गुरुपदाश्रय नहीं होने पर अधोक्षज विचार नहीं आयेगा, प्रत्यक्ष, परोक्ष अथवा अपरोक्ष तक ही गति होगी । जो बद्ध, हमारी भोग्य, दृश्य, चिन्तनीय, आघ्राणीय है, वही माया है । हमें अधोक्षज भगवान का सेवक स्वयं होना होगा । पुरोहित अथवा प्रतिनिधि के द्वारा सेवाकार्य नहीं होता ।

प्र० – भक्ति और अभक्ति क्या है?

उ० – भक्ति अर्थात् साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेम भक्ति । अभक्ति अर्थात् अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान, योग एवं उनके मिश्रण से असंख्य प्रकार की हरिविमुखता ।

प्र० – ब्रजवासी कौन हैं?

उ० – ब्रज धातु का अर्थ है – चलना । जो सर्वदा कृष्णेन्द्रिय तर्पण के पथ पर चलते हैं, वे ही ब्रजवासी हैं । ब्रजवासियों के अनुगत होकर श्रीनाम का भजन करना होगा अन्यथा माया का संसार हो जायेगा । ब्रजवासियों के आनुगत्य में कृष्ण – संसार प्राप्त होगा । यदि सब समय ही कृष्ण का भजन नहीं होगा, तो ऐसा होने पर ब्रजवासियों के आनुगत्य से विच्युत होना पड़ेगा । मेरे श्रीगुरुपादपद्म, श्रीराधारानी, श्रीनन्द – यशोदा, श्रीदाम – सुदाम आदि सभी ब्रजवासी हैं ।

प्र० – क्या भक्तसेवा को छोड़कर वास्तविक मंगल नहीं होता?

उ० – जो भगवान की सेवा करते हैं, वे ही भक्त हैं और जो सेव्य होकर सेवक की सेवा ग्रहण करते हैं, वे भक्तों के एकमात्र सेव्य – भगवान हैं । भगवद्भक्तगण भगवान के समान ही पूज्य हैं । पूजा दो प्रकार की होती है – सेव्य भगवान की पूजा और सेवक भगवान की पूजा । यह दोनों ही ईश्वर वस्तु हैं । भगवान सूर्य सदृश और भक्त अथवा गुरु आलोक स्वरूप हैं । सेव्य और सेवक, भक्त और भगवान से परस्पर अविच्छेद्यसम्बन्ध विशिष्ट हैं । भक्त – भगवान पृथक पदार्थ नहीं हैं । भगवान पूर्ण वस्तु हैं । जिनमें भगवद्भक्ति विद्यमान है, वे भक्त हैं । भक्त कहने पर भजनीय वस्तु संश्लिष्ट रहती है । जिस प्रकार पुत्र कहने पर पिता निश्चय ही विद्यमान रहेंगे । भक्ति, भक्त और भगवान – यह तीन अविच्छेद्यसम्बन्ध में संश्लिष्ट हैं । भगवद्भक्त कृष्ण के अधीन होते हैं और कृष्ण भक्तों के अधीन रहते हैं । ये परस्पर अभिन्न, अंग – अंगी भाव युक्त हैं; इसीलिये एक – को दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता । भक्त के बिना भगवान रूपी कोई वास्तव वस्तु नहीं रहती । भक्तपूजा के बिना भगवान की पूजा का कोई अर्थ ही नहीं है । भक्त अथवा सेवक के बिना सेव्य का विचार आंशिक विचारमात्र

होगा । भक्त अथवा सेवक को भगवान अथवा सेव्य से पृथक करने पर भक्त को भजनवृत्ति रहित करके उसे असम्पूर्ण अथवा स्वतंत्र करके दूर निक्षेप करना हुआ । इस प्रकार का कुविचार केवल अभक्तों में ही दिखलायी पड़ता है ।

भगवद्भक्त केवल भगवान की सेवा करते हैं, जो भगवान की नित्यसेवा करते हैं, भगवद्भक्त उनकी भी सेवा करते हैं । भगवद् शब्द से नाम – रूप – गुण – परिकर – लीला परिलक्षित होते हैं । भक्त सेवा के बिना भगवान की सेवा नहीं होती; सेव्य भगवान की पूजा बहुत समय सेव्य के निकट नहीं भी पहुँच सकती; किन्तु सेवक – भगवान की पूजा के द्वारा जो सेव्य भगवान की पूजा होती है, वह पूजा अव्यर्थ होती है, वह पूजा भगवान के निकट पहुँचे बिना नहीं रह सकती क्योंकि वहाँ समस्त भार 'भक्त' ग्रहण करके अपने नित्य सेव्य के निकट पहुँचा देते हैं ।

प्र० – श्रीगुरुपादपद्म का स्वरूप क्या है?

उ० – श्रीगुरुदेव साक्षात् श्रीहरि हैं किन्तु यह कहने का अर्थ यह नहीं है कि वे भोक्ता भगवान हैं । श्रीगुरुदेव सेवक भगवान अथवा आश्रयविग्रह हैं और श्रीकृष्ण भोक्ता भगवान अथवा विषय विग्रह हैं । श्रीगुरुदेव कृष्ण होकर भी कृष्णप्रेष्ठ हैं । चिद्विलास का विषय भगवान हैं और चिद्विलास के आश्रय में जो श्रेष्ठतम् हैं, वही श्रीगुरुपादपद्म हैं । एकमात्र मुकुन्दप्रेष्ठ श्रीगुरुपादपद्म के अतिरिक्त इस जगत में भगवान का प्रियतम और कोई नहीं है । गुरु दस – पाँच नहीं, एक हैं । गुरु कृष्ण के परिकर, पार्षद अथवा कृष्णसंगी हैं । परिकर के बिना भगवान की भगवत्ता स्वीकृत नहीं होती । परिकर – वैशिष्ट्य के बिना भगवद् – विद्रोह उपस्थित होता है । श्रीगुरुपादपद्म भगवद्वस्तु से पृथक वस्तु नहीं हैं । गुरुपादपद्म एवं गुरुवन्द्य भगवद् – पादपद्म एक होने पर भी इनमें परस्पर वैशिष्ट्य विद्यमान है । वन्द्य, वन्दनकारी से eliminated (पृथक) नहीं

हो सकते । गुरु का गुरुत्व नश्वर है अथवा गुरुपादपद्म उपायमात्र हैं, उपेय नहीं हैं अथवा नित्य सेव्य नहीं हैं, यह अभक्तों का विचार है । भगवद्वस्तु श्रीगुरुदेव के प्रति इस प्रकार की जड़बुद्धि अथवा अनित्य बुद्धि होने पर नरकगामी होना पड़ेगा । कृष्ण ही कृष्ण को प्रदान कर सकते हैं । गुरुदेव ही कृष्ण को प्रदान करते हैं । कृष्णप्रदाता गुरुपादपद्म गोलोक-वृन्दावन में नित्य अवस्थित हैं । वे काल से पूर्व भी थे और बाद में भी चिरदिन रहेंगे । जो नित्यकाल गुरुपादपद्म की सेवा नहीं करते, वे गुरुदेव नहीं हैं । गुरुदेव स्वयं आचरण करके गुरुसेवा और कृष्णसेवा की शिक्षा प्रदान करते हैं । जो जीवन-मरण, अनन्तकाल के लिये कृष्णसेवा करते हैं, वही गुरुदेव हैं । गुरु का प्रत्येक कार्य भगवान की पूर्ण सेवामय होता है । भगवान होना गुरु का कार्य नहीं है, भगवद् द्रोही होना नितान्त लघु का कार्य है । श्रीगुरुदेव कदापि अवैष्णव नहीं हो सकते । वे भगवद्-अनुभूति विशिष्ट एवं सेवा के तारतम्य के निर्देश में परमबुद्धिमान् होते हैं । यदि भाग्यक्रम से ऐसे महापुरुष गुरु रूप में प्राप्त हो जायें, तभी हमारा मंगल होगा । जो गुरुदेव हमारे भोग की वस्तुओं का अनुमोदन करते हैं, वे गुरु नहीं-मोसाहेब (खुशामद करनेवाला) हैं । जो गुरु शिष्य का मंगल नहीं चाहता, वह शिष्य के सब विचारों का अनुमोदन करता है । तुम जो कर रहे हो, वही ठीक है-इस प्रकार की बात कहना गुरु का कार्य नहीं है, यह मोसाहेब का कार्य है । गुरु शिष्य का शिष्य अथवा जीव का मोसाहेब नहीं है, वे भगवान के मोसाहेब हो सकते हैं क्योंकि भगवान पूर्ण वस्तु, सच्चिदानन्द वस्तु हैं, उनमें किसी प्रकार की हेयता नहीं है । श्रीगुरुदेव नित्य अनर्थमुक्त पूर्ण अर्थ हैं । भगवान की शक्ति और उनके स्वरूप के विषय में अभिज्ञान प्रदान करना ही गुरु का कार्य है । हमारे मंगल के लिये गुरुवर्ग इस प्रपंच में अवतीर्ण होते हैं । हमारे गुरुवर्ग नित्यसिद्ध हैं; वे साधनसिद्धमात्र नहीं हैं । गुरुसेवा नहीं करने पर हम दाम्भिक हो जायेंगे, तृणादपि सुनीच नहीं हो पायेंगे, कृष्णदास के

अभिमान में प्रतिष्ठित नहीं हो पायेंगे । सद्गुरु प्राप्त करके भी गुरुदक्षिणा के अभाव में हमारा मंगल नहीं हो रहा है । श्रीगुरुपादपद्म का आश्रय करके गुरुदक्षिणा प्रदान नहीं करना ही विश्वासघाती का कार्य है । हम गुरु के कहाँ हो पा रहे हैं? गुरु का नहीं होने पर गुरुसेवा किस प्रकार होगी? गुरु का होकर गुरु की विश्रम्भ सेवा के फलस्वरूप हमारे सभी कुसंस्कार और अनर्थ विदूरित होंगे । एकमात्र गुरुसेवा के द्वारा ही मंगल प्राप्त होगा । गुरुसेवा के प्रति उदासीन होने पर कदापि मंगल नहीं होगा ।

श्रीगुरुदेव नित्य पूज्य अथवा नित्यसेव्य वस्तु होकर भी भगवद्सेवा के मूर्त्त विग्रह हैं । श्रीगुरुदेव सेवाविग्रह, भक्तिविग्रह अथवा मूर्त्तिमान् भक्ति हैं । गुरु कृष्णमय, निरन्तर कृष्णचिन्ता में विभोर रहते हैं । श्रीगुरुदेव के नाम, रूप, गुण, लीला सभी सेवामय हैं । सेव्य भगवान की सेवा ही उनकी सत्ता है, सेवा ही उनका स्वरूप, सेवा ही उनका गुण, सेवा ही उनकी लीला है । वे प्रेमसेवा में सुदक्ष एवं प्रेमभक्ति के शिक्षक हैं । श्रीगुरुदेव भवपार के कर्णधार अथवा नाविक, नामप्रेम-प्रदाता और भक्तिपथप्रदर्शक हैं । वे नामाचार्य और सम्बन्धज्ञानाचार्य हैं ।

प्र० – हमें कृष्ण का दर्शन क्यों नहीं होता?

उ० – गुरुपादपद्म का दर्शन नहीं होने पर कृष्ण का दर्शन किस प्रकार होगा? गुरुदर्शन नहीं होने पर कृष्णसेवा नहीं होती, पुनः कृष्णसेवा नहीं होने पर कृष्ण दर्शन भी असम्भव है । यदि गुरुपादपद्म के दर्शन के पश्चात् भी पुनः जगत् दर्शन अथवा योषित (स्त्री) दर्शन होता है, तो ऐसा होने पर मंगल नहीं हुआ, कृष्ण सेवा नहीं हुई, कृष्णानुभूति प्राप्त नहीं हुई । यदि कोई वास्तविक रूप में गुरुपादपद्म का आश्रय करके निष्कपट रूप में गुरु-कृष्ण की सेवा करता है, तो उसे निश्चय ही कृष्ण का दर्शन प्राप्त होगा । श्रवण-कीर्त्तन प्रबल रूप से करने की आवश्यकता है । श्रवण-कीर्त्तन प्रबल होने पर भोग्य दर्शन अधिक प्रबल नहीं

होगा । तब कृष्णभोग्या स्त्रीजाति के प्रति परमपूज्या गुरुज्ञान उदित होगा । गुरुकृष्ण की सेवा के फलस्वरूप भोक्ता अभिमान विदूरित होने पर भगवान के प्रति सेवा वृत्ति उदित होगी । तभी कृष्ण का भली-भाँति दर्शन होगा, मैं अमुक स्त्री का पति अथवा भोक्ता हूँ, यह कुविचार और नहीं रहेगा । कृष्ण ही एकमात्र स्त्रीपति अथवा भोक्ता हैं और हम सभी कृष्ण के सेवक हैं, भली-भाँति यह ज्ञान नहीं होने पर हमारा मंगल किस प्रकार होगा?

श्रवण-कीर्त्तन नहीं होने के कारण ही हमें कृष्ण का दर्शन नहीं होता । पहले आश्रय ग्रहण कर बाद में श्रवण-कीर्त्तन करना चाहिये । मैं आश्रय ग्रहण करूँगा । आश्रय ग्रहण नहीं करने पर किस प्रकार मंगल होगा? जागतिक कथाओं में अधिक आविष्ट होने पर श्रवण नहीं होगा । श्रवण नहीं करने पर जीव विषय भोग के अतिरिक्त और क्या करेगा?

प्र० – क्या हमें भगवान की दया प्राप्त होगी?

उ०-यदि हृदय में निष्कपट आर्त्ति हो, यदि वास्तव में ही भगवान को प्राप्त करना चाहते हो, तो ऐसा होने पर निश्चय ही भगवान की दया प्राप्त होगी किन्तु अन्य आकांक्षा रहने पर जन्म-ऐश्वर्यादि के अभिमान से सर्वनाश ही होगा ।

भगवान की इच्छा से सद्गुरु की प्राप्ति होती है । भगवान की दया प्राप्त होने पर सब सम्भव होगा । उनकी दया नहीं होने पर हमारी सैंकड़ों चेष्टाओं के द्वारा भी कुछ नहीं होगा, उनकी दया ही मुख्य वस्तु है । अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करके निष्कपट रूप में उनकी दया प्राप्ति की इच्छा करनी होगी । निष्कपट कृपाप्रार्थी ही कृपा प्राप्त करेंगे । 'करुणालयस्य करुणा महती' अर्थात् दयामय, दया किये बिना रह ही नहीं सकते । हमारे द्वारा सम्पूर्ण रूप से दया प्राप्ति की इच्छा नहीं करने पर ही हमें उनकी दया की प्राप्ति नहीं होती । जो सम्पूर्ण रूप से भगवान के शरणागत होते हैं, मायाधीश भगवान स्वयं उनकी सहायता करते हैं ।

भगवद्सेवा साक्षात् भगवान को प्रदान करती है; भगवद्सेवा के अतिरिक्त आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता । कृष्ण हमारे एकमात्र आराध्य हैं । कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त हमारा और कोई कृत्य नहीं है । भगवद्सेवा अपने सुख की इच्छामात्र नहीं है, सुख की खोज भी नहीं है । अपने सुख की खोज में लगे रहना तो अपस्वार्थपरता मात्र है ।

प्र० – भक्ति क्या है?

उ० – कृष्णकार्य करने का नाम ही भक्ति है । अपने कार्य करने का नाम भक्ति नहीं है । विषयी होकर विषय की सेवा अथवा माया की सेवा भक्ति नहीं है । माया की सेवा अथवा विषय की सेवा को अर्थात् प्रभुत्व करने को भक्ति समझकर भ्रमित होने पर हित के स्थान पर अहित होगा । पापी, पुण्यवान्, कर्मी, ज्ञानी, ये सब अभक्ति को लेकर समय व्यतीत कर रहे हैं । भक्ति नहीं होने पर कर्म – ज्ञानादि ही श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं ।

प्र० – क्या गुरु के आदेश का यथायथ पालन नहीं करने पर अमंगल होता है?

उ० – निश्चय ही । मंगलमूर्त्ति श्रीगुरुपादपद्म के आदेश का पालन नहीं करने पर अमंगल ही होगा, जीवों की संसार वासना वर्द्धित हो जायेगी एवं मृत्यु के बाद नरक प्राप्त होगा । जो गुरु के आदेश पालन नहीं करते, वे नारकी, विषयी और पक्के संसारी हैं । गुरु के आदेशों का लंघन करने वालों को शूकर – योनि की प्राप्ति होती है । जिनमें संसार – वासना, विषय – वासना प्रबल होती है, वे भाग्यक्रम से सद्गुरु को प्राप्त करके भी अपने प्राण देकर उनकी सेवा नहीं कर पाते, जिसके फलस्वरूप उनका विशेष मंगल नहीं होता । वे इस अमूल्य वस्तु का मूल्य नहीं जान पाने के कारण असार संसार को सार समझकर जन्म – जन्मान्तर तक कष्ट पाते हैं ।

गौड़ीय मठ की प्रतिष्ठा का उद्देश्य हरिसेवा की आड़ में अर्थ-संग्रह करना नहीं है । मठ साधारण लोगों के अनुग्रह के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं है । श्रीकृष्ण-संकीर्त्तन द्वारा ही श्रीगौरांगदेव की सेवा होती है । श्रीकृष्ण ने गौरसुन्दर की लीला के रूप में जो आदर्श स्थापित किये, वही आदर्श जीवों के लिए एकमात्र मंगल का मार्ग है ।

श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

श्रीगौर ब्रज माधुरी समिति

SGBMS